UNIVERSAL
LIBRARY
OU_182306
UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H82/जे72ऐ Accession No. जे।508

Author जोविन्ददास।

Title स्नेह या स्वर्ग : 1946

This book should be returned on or before the date last marked below

स्नेह या स्वर्ग ?

[एक पद्यात्मय नाटक]

गोविन्दराम

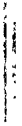

किताब महल
इलाहाबाद

प्रकाशक
किताब महल
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण १९४६

Checked 1968

Checked 1968

मुद्रक
जे० के० शर्मा
इलाहाबाद ला जर्नल प्रेस
इलाहाबाद

निवेदन

यह नाटक यूनान के महाकवि होमर के महाकाव्य 'ईलियड' में वर्णित एक कथा पर आधित है। उस कथा को भारतीय रूप दिया गया है। नाटक के मुख्य पात्रों की सृष्टी में बनावटी नाम भी दे दिये गये हैं।

'मेघनाद वध' के अनुवाद में जिस अमित्राक्षर छन्द का उपयोग हुआ है उसी का इस नाटक में उपयोग किया गया है।

—गोविन्ददास

पात्र, स्थान---

मुख्य पात्र---

स्नेहलता (मार्गरेखा)
अक्षय (यूनस)
चपला (थियानो)
अजेय (इडास)
प्रभाकर (टालेमन)
जयन्त (अपालो)
शुचिता (अर्थानी)
महेन्द्र (जूपिअस)
शची (हीरा)

स्थान---

स्वर्ग
पृथ्वी

पहला अंक

पहला दृश्य

स्थान—स्वर्ग में जयन्त के भवन का अलिन्द
समय—उषा काल

[जयन्त और शुचिता]

जयन्त

(आकाश की ओर देखते हुए शुचिता से)

कैसी पूर्णिमा के पश्चात् की यह प्रतिपदा !
प्राची की, प्रतीची की समान यह सुषमा
साथ-साथ भूत के, भविष्य के वैभव की
वार्ता सी; कहो, बहन, देगी मोद खेद या ?

शुचिता

सुरगण में जो वरतम, शूरतम है,
जिसके जीवन की प्रत्येक घटिका सदा
चटकीली चारु चाँदनी समान है रही
भूत में; उसी भाँति भविष्य-जीवन में भी

जयन्त, ज्योतिवन्त हर वासर जावेगा
सुखमय सकेत कर रही यही उषा।
और हमे सूचना यों भावी की देते हुए
केसरी साडी की सिकुडनो के बीच मे से
अपने मजु-मुख से मुस्करा कैसी रही
उठाकर लाल-लाल अपनी अंगुलियाँ !

[दोनों कुछ देर चुपचाप आकाश की ओर देखते है।]

जयन्त

(कुछ देर पश्चात् शुचिता की ओर देख)

अपने अधैर्य पै अतिशय लज्जित मै,
तुच्छ मानवी के पास भेज रहा देवी को ..
उस सुरांगना को, जो सर्वश्रेष्ठ स्वर्ग मे,
सुरपति की सुता तथा मेरी सहोदरा !
पृथिवी पर दिव्य देवता देवलोक से
जाते तब मानव जब करते तपस्या
भक्तिभावो से भरी, भव दुःख मोचने को।
उनके कष्ट काट, सुर देते वर उन्हे।
किन्तु स्त्रोतस्विनी का स्त्रोत आज उलटेगा,
जा रही देवी नही देने, परन्तु लेने को
करके अति विनम्र वन्दना मानवी की।

शुचिता

किन्तु स्नेहलता के निकट जाने में मेरे
हृद-हृद में हिचक की हिलोर है नहीं।
प्रथम तो कम नहीं वह किसी देवी से
सुन्दरता में, सद्गुणों में, किसी भी बात में।
मैं तो कहूँगी देव स्त्रियों की तुलना में भी
है वह विशिष्ट बाह्य, अन्तरंग दोनों में।
कामरूपिणी हम देवियाँ देवलोक की
स्नेहलता के दिव्य दर्शन के पूर्व नहीं
कर सकी कल्पना भी वैसे रम्य रूप की।
शील तथा दृढ़ता दो मुख्य गुण नारी के
उसमें जैसे वैसे न किसी सुरांगना में।
ऐसी मानवी के पास देवी को भी जाने में
सकोच क्या सोचो तुम्हीं ? और यदि होवे तो
कारण उसका केवल एक हो सकता।

जयन्त

कौन ?

शुचिता

ईर्षा, जो समस्त सुख ग्रस्त करती।
फिर मैं जाती वहाँ भाई के भावी सौख्य के
सम्बन्ध में, जो निर्भर है इस सम्बन्ध पै।

संसार के सारे सृजन में यदि स्रष्टा ने
है सृजी वस्तु कोई श्रेष्ठ तो वह स्नेह है।
इस प्रेम-प्रासाद के मुख्य तीन भाग हैं—
अपत्य-स्नेह नीव, दाम्पत्य वास-कक्ष है,
बन्धुप्रेम आच्छादन, वृथा जिसके बिना
भव्य से भव्य भवन की भी नीव, भित्तियाँ।
वही बान्धव-प्रणय प्रेरणा कर रहा
जयन्त, शुचिता को काम यह करने की।
और जब स्वकाम में सफल हो स्वर्ग को
लौटूँगी, होगा कौन मुझसे विशेष सुखी?

जयन्त

कौन भाई मानेगा भाग्य निज धन्य नहीं
पा ऐसी भगिनी को सर्व सुखी स्वर्ग में भी।
मुझे विश्वास है तुम्हारे शुभ प्रयत्न में
मैं सफल होऊँगा, अजेय विफल होगा।

शुचिता

तुम हो अमर्त्य सुर, वह मर्त्य नर है,
सम में न स्पर्द्धा, सफलता मिलेगी तुम्हें।
(कुछ रुककर)
अच्छा, अब खोना चाहिए न पल भर भी,
जाती भूलोक को मैं मिलने हेतु लता से।

जयन्त

हाँ, विवाह-सम्बन्ध में स्वयम्मति स्नेहलता
सन्ध्या के पूर्व आज देगी पिता अक्षय को।

लघु यवनिका

दूसरा दृश्य

स्थान—पृथ्वी पर अजेय के गृह का एक कक्ष
समय—प्रात काल

[अजेय और प्रभाकर]

अजेय

शुभ्राभ्र-शोभित शुभ्र शर्वरी पूर्णिमा की
देती सुख तन को, मोहती मन, था सुना,
किन्तु कल की एसी पूनो थी कालानल-सी,
कल न मिली पल भी, विकल हो-हो उठा।
उठ-उठ, घूम-घूम, कक्ष औ' गवाक्ष में
बितायी जिस भाँति रात, वर्णनातीत है।
जल-जल के जो अनल जलाता जी को था
फैल-फैल वही साँसरूपी अनिल द्वारा

ऐसा भासता था मानो जला रहा सृष्टि को,
अनन्त को, अनन्ता को, अम्बुधि को, सब को।
तारापति, तारे, तरु सारे थे जल रहे।
शशधर-कर हुए थे शर कृषानु के,
उडुगण अगारों से चमचमा रहे थे,
औ' ज्योतिरिंगण ज्योतित चिनगारियों सी।

प्रभाकर

जब किसी अपेक्षित बात के निर्णय का
समय समीप आता, होती दारुण दशा।
जाते मास, जाते वर्ष, परन्तु घटिकाएं
जो रहतीं शेष, वे अशेष जान पड़तीं।
लहर हर पल पर नये विचार की
उठती है हृदय में जो सिहर उठता।
जल-निधि के ज्वारभाटे में जलयान ज्यों
डगमगाता, डूबता और उतराता है
त्यों मन यह अपने ही मानस-सर में।
और फिर तुम्हारी तो स्पर्द्धा एक सुर से।

अजेय

परन्तु, मित्र, मैं नहीं मानता अपने को
किसी देवता से हीन दीन किसी बात में।

वह अमर्त्य, मर्त्य हूँ मैं, किन्तु इसमें क्या ?
मृत्यु तो जीवन में एक दिन ही आयगी।
है जीवन, जीवन ही, और मृत्यु, मृत्यु है,
शूरों पै प्रभाव न उसका कभी रहता।

प्रभाकर

जो कुछ हो, सुर है, वह,

अजेय

किन्तु इसमें तो
विशेषता मेरी है।

प्रभाकर

कैसे ?

अजेय

करता मैं हूँ जो
स्पर्धा एक सुर से। फिर सोचो यह भी तो
देखा मैंने लता को न केवल यौवन में
पर बालपन से, जब न थी उसमें ये
स्वच्छता औ' मादकता, आज जो है आ गयी।
सुस्निग्ध केश-कलाप उस काल रहता
धूल से धूसरित मैला और फैला हुआ।

मदभरी यह चारु-चितवन भी न थी,
थे लोचन लोल, परन्तु भोले भाले बड़े।
निखरे न थे, उभरे न थे अवयव भी।
किन्तु उस बीच भी मेरे हृद-हृद में तो
एक ही मरोजनी थी और उस सर की
हर लहर उसी पद्मिनी को थी पूजती।
संग में हम खेले खेल, खेल में लड़े भी,
लड़ के अलग हुए, परन्तु तुरन्त ही
मिले, बिलग रह सकना असम्भव था।
कभी स्नेह, कभी क्रोध, कभी हँसी, रोना भी;
किन्तु योग नियम, वियोग अपवाद था।
जब किसी मेल के खेलने के लिए लाते
खिलौने, वे बहुधा समान से थे रहते,
फिर भी न जाने क्यों मेरा खिलौना लता को
लगता अच्छा, और बार-बार बदलती
वह अपने खिलौने से मेरे खिलौने को।
कभी-कभी ऊब के मैं उसकी ढिठाई पै
जड़ देता चपत भी, किन्तु बहुत धीरे।
रोती वह फुक्का फाड़ धीरी चपत पै भी
दंग हो जाता मैं यों, हुआ हो भूकम्प मानो;
और दोनों खिलौने विनष्ट हो देता उसे।

कभी जब आते फल, और वे सुधार के
बराबर-बराबर बाटे जाते दानों को ;
परन्तु उसे सदा स्वभाग कम दिखता ,
लाती न वह जब तक मेरे भाग में से
कुछ न कुछ न ले लेती रो के या रूठ के ,
देता तो मैं दुःख से सिकोड़ के नाक भव
किन्तु देखता जब उसे उन्हें खाते हुए
भर उठता हृदय हर्ष की हिलोर से।
एक बार जब वह रोग-ग्रस्त थी हुई
औ' कुछ काल निकला न निज निकेत से ,
मुझे भासा मानो सकल सृष्टि सूनी हुई।
इधर-उधर, जिधर-तिधर, ऐसा मैं
भटका, जैसे कोई तिनका झंझावात में।
कहते 'समझ' जिसे, वह थी न मुझ में
समझा नहीं निज को इसीलिए तब मैं ,
किन्तु आज जब सिंहावलोकन करता
जो तब था अज्ञात, ज्ञात होता अब वही।
जिसने उसको चाहा है शैशव में भी यों
वही चाह सकता जीर्ण-शीर्ण होने पै भी ,
किन्तु जिसने लखा लावण्य ही यौवन का
जाने पै तरुणाई-अरुणाई क्या चाहेगा ?

प्रभाकर

किन्तु तरुणाई की अरुणाई के जाने का
तथा है जीर्णता-शीर्णता का प्रश्न ही कहाँ ?
वरण करने पै सुर के मरण नहीं,
न जरा, किन्तु अनन्त, अक्षत यौवन है।

अजेय

(कुछ देर रुककर सोचते हुए)

ठीक है, परन्तु नवीनता तो नष्ट होगी ;
चिर यौवन में निरन्तर नवता नहीं
बिना प्रेम-पयोधि की तरल तरंगों के।
प्रणय ही पल-पल और पग-पग पै
जगमग ज्योतिर्मय जीवन है करता।
जयन्त स्वेच्छाचारी और अप्सरा विहारी
सहज, सत्य स्नेह क्या सोच भी न सकता।
है उसको केवल लालसा स्नेहलता की ;
ज्योंही पूर्ण होगी त्योंही त्यागेगा वह उसे
औ' होगी वह विरस-वदना विरहिणी।
जाओ, मित्र, जाओ तुम समझाओ उसको
मेरे मानस के अगाध प्रेम अबुधि को
और उसकी उच्छ्वासित उदग्र उर्मियाँ ;

तथा साथ-साथ इसके देव की लालसा
क्षणिक, किन्तु रग-विरगी सुर चाप सी।
जाता मैं स्वय परन्तु मैं तो सदा सर्वदा
रहा हूँ विफल स्ववृत्त व्यक्त करने मे ;
इसीलिए उसके भाव भी हूँ न जानता।
माँग की है मैने उसकी उसके पिता से ;
किन्तु लता के सामने तो मूक-माँग मेरी।
मै यदि जाऊँगा तो और बिगाड़ आऊँगा
बिगड़ा काम जो उसके पिता के लोभ से।
प्रेम और बुद्धि सग-सग नही चलते,
इसीसे भेजता तुम्हे, जो अभिन्न मित्र हो।

प्रभाकर

जाता मैं, अजेय, किन्तु एक बात कह के।

अजेय

कैसी ?

प्रभाकर

तुम्हारी इच्छा पूर्ति कठिन है महा।

अजेय

ऐसा ?

प्रभाकर

हां, मेरा मत तो यही।

अजेय

है कारण क्या ?

प्रभाकर

तुम्ही ने कहा अभी—लोभ उगके पिता का।
विलक्षण यह लोभ-वृत्ति तृप्ति न पाती,
होता लाभ ज्यों-ज्यो, त्यों-त्यो अधिक बढ़ती है।
रत्नाकर रत्नागार, किन्तु विकल उसे
लीलने को, जो जहाज जाता उस पर से।
विविध वैभव वृत्त कह के अक्षय को
किया होगा अपनी ओर उस जयन्त ने,
फिर अजर-अमर हो जायगी पुत्री भी।

अजेय

(अत्यन्त विह्वल हो)
किन्तु प्रेम.....
(चुप हो जाता है।)

प्रभाकर

वह है या नही जानते कहा ?

[कुछ देर निस्तब्धता।]

अजेय

(भरोये हुए स्वर में)

प्रभाकर, इतना मैं कह देता तुमसे
यदि तुम असफल हो लौटते तो मैं

(ऊपर उँगली उठाकर)

चलता।

लघु-यवनिका

तीसरा दृश्य

स्थान—पृथ्वी पर अक्षय के उद्यान का एक भाग
समय—प्रात काल

[स्नेहलता और चपला]

स्नेहलता

हा, हाँ, मम-सम्मुख कम कठिनाई नहीं।
है दिव्य जयन्त और अद्भुत अजेय है,
चुनाव करना तब, सखि, सरल है क्या?

चपला

देवता से दिव्य विश्व में नहीं कोई कहीं,
जयन्त में दिव्यता स्वाभाविक निहारना;

किन्तु अजेय को तो तुम सदा से देखती,
आश्चर्य, वह आज अद्भुत तुम्हे भासता !

स्नेहलता

देखा जिस दृष्टि से वह दृष्टि अब नहीं ;
दृष्टि-भेद से विभेद हो जाता है कितना
प्रथम बार पाठ पढ़ा यह, सखि, मैंने।
बालकाल से सदा संग-संग अजेय मैं
रहे, खेले, लड़े, परन्तु दृष्टि थी दूसरी।
(सूर्यमुखी पुष्पों और कमलों को देख)
ये सरोज, सूर्यमुखी सूर्य को सदैव ही
विलोकते एक दृष्टि से, सखि, इसीलिए
वही भाव औ' विभाव, अनुभाव भी वही।
परन्तु आज मेरी दृष्टि
(आकाश पर नजर पड़ जाती है। चौंककर)
हैं ! हैं ! यह है क्या ?

चपला

(आकाश की ओर देख)
सुन्दर, सुनहरी, सजीली एक बदली।

स्नेहलता

(आकाश की तरफ़ ही ध्यान से देखते हुए)
और उस अम्बुद की आड़ में ?

चपला

हाँ आई मे ?

(कुछ रुककर)

आई मे कोई चित्र-विचित्र-सी वस्तु

स्नेहलता

है क्या

वह ?

चपला

(फिर कुछ रुककर)

है क्या वह कहना कठिन, किन्तु....

स्नेहलता

है

कितनी दमक उसकी द्युति मे !

चपला

इसीसे

तो समझना सरल नहीं कि वह है क्या ?

[कुछ देर दोनों कुछ न कहकर आकाश की ओर देखती रहती है।]

स्नेहलता

(एकाएक आश्चर्य से)

अरे ! अरे ! रथ है रथ है !

चपला

(उसी प्रकार आश्चर्य से)

हां, हां, रथ है !

स्नेहलता

और कैसा रम्य रथ !

चपला

रुचिर रुपहरा ,
चमचमाता चारु चन्द्रमा सा !

स्नेहलता

नहीं, नहीं ,
चचल चपला सा जाम्बूनद अम्बुद मे !

[चपला हँसती है; स्नेहलता भी। दोनों एक दूसरी की ओर देख फिर आकाश की तरफ़ देखने लगती है। कुछ देर निस्तब्धता]

चपला

वेगवान वायु-सा है !

स्नेहलता

व्योम में जो चलता !

चपला

आशुगति अश्वों की कलगियों को तो लखो !

स्नेहलता

हां, हिलती तक नहीं

चपला

स्थिर हुई वेग में !

स्नेहलता

और ध्वजा ?

चपला

है धूमकेतु सी वह भी खड़ी !
स्थिरता और तीव्र गति संग-संग दोनों।

स्नेहलता

घूमते चके या. .

(चुप हो जाती है।)

चपला

(स्नेहलता की ओर देख)

खड़े ?

(फिर आकाश की ओर देख)

नहीं नहीं घूमते ;
तभी अरे न दीखते, शून्य मध्य भाग है।

स्नेहलता

ठीक है चक्रों से ही चूर्ण अभ्र खण्ड होते
और रुक्म-रेणु है उड़ रही झलमला !

[कुछ देर चुपचाप दोनों ऊपर की ओर देखती हैं।]

स्नेहलता

देखो, देखो, स्यन्दन समीप अब आ गया ;
धवल-धवल अमल अश्व

चपला

और उनके
अयाल और पुच्छ सुवर्ण जैसे

स्नेहलता

मानो खिले
पुण्डरीक, जिनकी केसर केसरी होती।

चपला

या मित मद्य हो, सोने के कलश जिनके।

स्नेहलता

और है रथ में भी रंग रम्य दोनों यही।

चपला

हाँ, गगा-अपनी स्यन्दन सुवर्ण चादी हो।

स्नेहलता

और दखो तो कितना प्रदीप्त प्रतोद है।

चपला

हा, प्रतीक मानो सारी वेग की विभा का हो।

[कुछ देर निस्तब्धता।]

स्नेहलता

ला, अवलोको अब रथी भी दिखने लगा।

चपला

दिखने लगी कहो, दव न, देवागना है।

स्नेहलता

काले केश-कलाप पै किरीट की किरणे,

चपला

गोल-गोल, गोल-गोल गण्डो पै कुण्डलो की,

स्नेहलता

जगमग मणिहार उन्नत उरोजो पे,

चपला

कृश कटि पर किंकिणी की छटा छिटकी,

स्नेहलता

भुजबन्ध भुजाओं,

चपला

कंकण कलाइयों पै

स्नेहलता

और सुनहरी साड़ी सब शरीर पै है।

चपला

परन्तु बस झलमल झलमल ही।

स्नेहलता

(कुछ आश्चर्य से चपला की ओर देख)

क्या ?

चपला

और क्या ? कहाँ है, सजनि सुन्दरता, वहाँ सरस-सरस, सुमुखि, जो

(स्नेहलता की ठोड़ी पकड़)

यहाँ सरसी।

स्नेहलता

(चपला का हाथ हटा फिर ऊपर की ओर देखते हुए)

चल, चल, देवी से मानवी का मिलान क्या ?

चपला

(ऊपर देखते हुए)

हाँ, ठीक है, दिखती वह तेरी चारु चेरी।

[स्नेहलता चपला की ओर देख उसके गाल पर धीरे से एक चपत जड़ देती है। दोनों खिलखिलाकर हँस पड़ती हैं और फिर ऊपर की तरफ़ देखने लगती हैं। कुछ देर निस्तब्धता। अब नेपथ्य से रथ की घरघर और घोड़ों की टापों का शब्द सुनायी पड़ता है।]

स्नेहलता

सुनो, सुनो अब घर्घर-घर्घर-घोष भी
चक्रों का,

चपला

औ' पड़ापड़-पड़ापड़ टापों का।

स्नेहलता

छू लिया अवनि का अंचल है स्यन्दन ने।

चपला

इसीसे साथ-साथ झाँझ मुरज बजते।

स्नेहलता

अरे ! अरे ! मुरका रथ हमारी ओर है।

[दोनों पीछे की ओर मुड़कर अपने सामने देखने लगती हैं और कुछ देर चुप रहती हैं। रथ घोष बंद हो जाता है।]

चपला

लो, देवी उतरी और उद्यान में आ रही।

स्नेहलता

जान पड़ता जयन्त ने भेजा दूती कोई।

[कुछ ठहरकर दोनों अपने सामने की ओर बढ़ती हैं। वहाँ से शुचिता का प्रवेश। दोनों और आगे बढ़ उसे प्रणाम करती हैं। वह प्रणाम का यथोचित उत्तर देती है।]

चपला

कदाचित् त्रिदिव से शुभागमन है हुआ ?

शुचिता

हाँ, आर्यो मैं स्वर्ग से, सुरपति की सुता हूँ,
जयन्त की भगिनी, शुचिता मेरा नाम है।

चपला

हुआ अति अनुग्रह आपका अवनि पै,
उद्यान पै, हम पै, धन्य हम; विराजिए।

[तीनों संगमरमर की चौकियों पर बैठती हैं।]

शुचिता

(बैठते हुए मुस्कराकर)

परन्तु मैं तो आयी स्वार्थ-सिद्धि उद्देश्य से।

चपला

सुरांगना-स्वार्थ तो नरांगना-कल्याण है।

शुचिता

(स्नेहलता से)

स्नेहलता, नव-स्नेह-भिक्षुक भाई मेरा।
जयन्त को देखा है तुमने कदाचित् कभी!

स्नेहलता

हां, देवि, दिव्य दर्शन किये मैंने उनके;
पिता जी के पास पधारे थे वे इन्हीं दिनों।

शुचिता

(जिसका मुख स्नेहलता के मुख से 'दिव्य' शब्द सुनते ही खिल उठा है।)

दिव्य वह अवश्य है, दिव्य देवलोक भी.
दिव्य तुम.....

स्नेहलता

(बीच ही में)

दिव्य मानवी कभी हो सकती ?

शुचिता

(उत्साह से)

तुम जैसी वैसी देवी देवलोक मे नहीं।
है दिव्य प्रेम यह, दिव्य होगा सम्बन्ध भी।

स्नेहलता

किन्तु, देवि, इसका अधिकार है तात को।

शुचिता

और स्वसम्मति का ?

स्नेहलता

वह मैं उन्हे दे दूँगी।

शुचिता

किस पक्ष मे ?

स्नेहलता

अब तक न निर्णय किया।

शुचिता

इसके निर्णय में किसी प्रत्युत्थान की
आवश्यकता, लता ? जयन्त और अजेय में
तुलना किसी प्रकार का भी क्या हो सकती ?

[स्नेहलता कोई उत्तर न दे, सिर झुका लेती है। शुचिता उसकी ओर देखती है; चपला कभी स्नेहलता और कभी शुचिता की तरफ़। कुछ देर निस्तब्धता।]

शुचिता

जयन्त को तो देखा, किन्तु न मुरलोक को ;
देख सकती हो उसे परिणय-पश्चात् ही ,
परन्तु बतातीं मैं तुम्हें कि वह है कैसा ?

[कुछ रुककर शुचिता फिर कहना आरम्भ करती है। स्नेहलता बेपरवाही से सुनती है, परन्तु चपला उत्सुकता से। यह दोनों की मुद्रा से ज्ञात हो जाता है।]

शुचिता

सुमेरु के सुवर्ण शिखरों पर है बसा ;
जो शृंग पारिजात-पादपों से प्रपूर्ण है।
इन तुंग तरुओं पै कल कल्प-लताएं
पवन के प्रवेग से नृत्य नित्य करतीं।

फूल-फूल अगणित फूल इस रास को
सुवास सयुक्त करते, और वायु को भी,
बनाते विलासवती; वसन्त सदैव है
निवास करता वहा; अन्य न ऋतु कोई।
झर-झर झरने झरते, नीर जिनका
शीतल सुधा सा, कर कर अठखेलियां
वह-वह बनाता सर, सरिताएं कई;
जिनके तट, कूल कलित घाटों से घिरे।
सरोवरों में सरोज रम्य रग-रग के
मानो जल के वे जाज्वल्यमान-भूषण हों।
इन तटिनी-तडागों के तीर पै हैं लगे
ललित ललित उपवन, जो भरे हुए
सुगन्धित सुमनों से, सुधासम फलों से।
यत्र-तत्र शिखरों पै सुर-सद्म हैं बने,
चारु चैत्य, गवाक्ष, कक्ष-युक्त, जो रत्नों के।
चम-चम, चमक-चमक चक्षुओं को ये
चकाचौंध करते; सौदामिनी मानो सदा
दमकती रहती, परन्तु बिना कड़के।
सुवर्ण औ' दुर्वर्ण की विविध वस्तुओं में
मणि तथा मुक्ताओं की झालरों झूमरों से
झलमल-झलमल ये देव-धाम होते।
जो सुर सुरस्त्री इन सदनों में बसते,

और नित नूतन केलि कलित करते
वन, उपवनों तथा सर सरिताओं में
सदा तरुण, अजर, अमर वे रहते।
जयन्त के वरण से मरण-मुक्त होगी;
सदैव सुहाग रहेगा और यौवन भी;
स्वामिनी हो स्वर्ग की सतत क्रीडा करोगी।
ऐसा भाग्य किसी भी मानवी का हुआ नहीं,
जिसे किसी देवता ने चाहा इस भाँति हो।
प्रार्थी मैं इसीसे यहाँ

स्नेहलता

(ऊबकर कुछ रूखे स्वर में बीच ही में)

देवि, एक प्रार्थना।

शुचिता

(स्नेहलता के रूखे स्वर और बीच में बोलने के कारण कुछ अप्रसन्न हो)

कहो।

स्नेहलता

(वैसे ही स्वर में)

आप मुझे कृपया डालें न लोभ में;
जिन किसी भी प्रभाव से प्रभावित हुए
न स्वसम्मति देना चाहेंगी निज तात को।

[सन्नाटा-सा छा जाता है। स्नेहलता और शुचिता दोनों के सिर झुक जाते हैं। चपला विह्वल-सी कभी स्नेहलता और कभी शुचिता की ओर देखती है। कुछ देर एक विचित्र प्रकार की निस्तब्धता।]

शुचिता

स्नेहलता, सुर पधारते तब पृथ्वी पे
नर जब करते तपस्या भक्तिभावों से।
मैं आयी उलटा तुम्हारी वन्दना करने
और यह रूखा-सूखा उत्तर तुम्हारा है?

चपला

(घबड़ाकर)

लता....लता ...लता .

स्नेहलता

(बिना चपला की ओर ध्यान दिये, शुचिता से)

अवोम अनुग्रह हुआ
आपका, देवि, भूलूँगी न जीवन में जिसे,
किन्तु जीवन-धन के सम्बन्ध में तो, भद्रे,
भद्र-सम्मति मेरी तभी होगी जब दूँगा
किसी भी प्रभाव से प्रभावित हुए बिना,
हाँ, अन्तिम अधिकार पितार्थी का मानती।

यदि मेरे मुख से कटु बात निकली हो,
अति विनम्रता से हूँ वह क्षमा माँगती,
अक्षम्य जो हुआ होवे अपराध, देवि, तो
सकोच रहित हो दे दण्ड आप मुझको।

शुचिता

(अप्रसन्नता से)

देने न दण्ड आयी मैं यहाँ, लता, तुमको,
जाती यहीं कह के जिसमें तुम्हारा भला।
अगणित अजेय मेरे भाई के सामने
तृच्छातितुच्छ, उसके चरणों की धूलि है।

[शुचिता उठकर चलती है। स्नेहलता और चपला भी उठकर उसे पहुँचाने जाती है और कुछ ही देर में लौट आती है। नेपथ्य से फिर रथ चलने का शब्द होता है।]

चपला

(भर्राये हुए स्वर में)

सजनि, यह किया क्या ?

स्नेहलता

(दृढ़ स्वर से)

क्या किया, सखि, मैंने ?
समर-क्षेत्र सारे भरे लोभ लालचों से

पावन प्रणय का क्षेत्र विश्रुत विश्व में,
स्वर्ग-सुखों से भी क्या क्रय किया जा सकता ?
एक भी ऐसा स्थान नहीं रह जायगा क्या,
जिसे कोई प्रभाव प्रभावित नहीं करे ?

चपला

(व्यंग से)

तो तुमने अद्भुत अजेय को चुन लिया ?

स्नेहलता

नहीं, नहीं, किन्तु मैं बिना किसी दबाव के,
प्रभाव के, लुभाव के, सोचना हूँ चाहती ;
और सोच के स्वसम्मति दे दूँगी तात को।

चपला

कब ?

स्नेहलता

आज सन्ध्या तक का समय है मुझे।

[उपर्युक्त संभाषण चलते-चलते शुचिता के रथ का शब्द लुप्त हो जाता है, परन्तु वैसा ही शब्द फिर समीप आता जान पड़ता है।]

स्नेहलता

(शब्द की ओर आकर्षित हो, पीछे की ओर घूमकर)

फिर लौट देवी रही ?

चपला

(जो घूम गयी है, अपने सामने की ओर देखते हुए)

नहीं, नहीं, यह तो
रथ इसी पृथ्वी का है।

स्नेहलता

(अपने सामने की ओर देखते हुए)

कदाचित् अजेय का।

चपला

प्रभाकर है।

स्नेहलता

वह गयी तो यह पहुँचा!
प्रम-क्षेत्र में भी इन मध्यस्थों को देख के
और अधिक अवसाद होता है मुझको।

[प्रभाकर का प्रवेश। दोनों उसका स्वागत करती हैं। दोनों ओर से अभिवादन होते हैं।]

प्रभाकर

(स्नेहलता से)

शुभे, समीप आपके आया मैं अजेय की
आज्ञा से।

स्नेहलता

जान गयी दर्श से ही, विराजिए।

[तीनों संगमरमर की चौकियों पर बैठते है।]

प्रभाकर

आपको अजेय भान अजेय आये नहीं,
भेजा सन्देश मेरे . . . .

स्नेहलता

(बीच ही में)

कृपया क्षमा कीजिए।
बाल-काल से सदा अजेय-सग मैं रही,
तब भी मुझ पै यदि प्रभाव पड़ा नहीं,
तो क्षणिक सन्देश से, वीरवर, लाभ क्या ?
अत मौन जो रहे आप इस सम्बन्ध में
दया होगी अतीव इस समय मुझ पै।

[प्रभाकर की दृष्टि उसी समय आकाश पर पड़ती है।]

प्रभाकर

(कुछ देर आकाश की ओर देख, स्नेहलता की तरफ़ देखते हुए)

आयी थी सुरागना क्या कोई सुरलोक से ?

स्नेहलता

जी हां, पधारी थी स्वयं सुरपति की सुता।

प्रभाकर

ओहो! अब समझा कारण क्यों न सुनना
चाहती है, श्रीमती, अजेय के सन्देश को।

लघु-यवनिका

चौथा दृश्य

स्थान—अजेय के गृह का एक कक्ष
समय—प्रात काल

[अजेय और प्रभाकर]

अजेय

तो तो उसने तुम्हारी बात भी सुनी नहीं?

प्रभाकर

नहीं।

अजेय

और आयी थी उसी समय शुचिता?

प्रभाकर

हाँ, मैंने स्वय रथ अवलोका आकाश मे।

अजेय

(कुछ रुककर गंभीरता से विचारते हुए)

सम.. समझे उसने न क्यो सन्देशा सुना ?

प्रभाकर

मैंने तो अपना मत बता दिया तुमको
इसका शुचिता कारण .. ...

अजेय

(बीच ही में)

कारण शुचिता
मै मानता, किन्तु तुम्हारा मत कि उसने
शुचिता के सम्मुख स्वीकृत इन्द्र-सुत को
कर लिया, इससे मेरा मत न मिलता,
मम-उर मे उठ रहा है कुछ और ही।

प्रभाकर

क्या ?

अजेय

(एक चौकी पर बैठते हुए)

बैठो बताता तुम्हें, किन्तु इसके लिए
पुरानी उसकी एक कथा कहनी होगी।

प्रभाकर

(एक चौकी पर बैठकर)

कहो।

अजेय

एक बार खेलते-खेलते खेल में
खिलखिला पड़ी, किन्तु खिलखिलाहट पै
उसकी जब मैं खिल्ली सी उड़ा कर हँसा,
खिजलायी खेल छोड़, रूठ के चली गयी।
दूसरे दिन, प्रभाकर, मैंने भूल क्या की,
बुलाया स्वयं न जा, पर भेजा बुलाने को
एक अन्य साथी, बस फिर क्या पूछते हो।
जाने कितने दिन आयी नहीं खेलने को,
और जब आयी तब न जाने क्या-क्या कहा।
सखे, उस अवस्था में भी आत्मसम्मान के
अनजान ही अनजान में भाव थे ऐसे
जब उसके, तब भला वह आज कैसे
मध्यस्थों के इन सन्देशों को सह सकती?
शुचिता के आने से अप्रसन्न अवश्य ही
हुई होगी, इतने में पहुँचे तुम होगे,

जल रही थी अनल आकर अनिल ने
और अधिक उसे प्रज्वलित कर दिया।
भाई, भूल भारी की, भेजकर मैंने तुम्हे,
अपमान तुम्हारा कराया, काम बिगाडा
अपना, किन्तु सन्देश जो तुमसे न सुना,
यह है लक्षण शुभ, कहा भी तो तुमसे—
'बालकाल से सदा अजेय-सग मे रही,
तब भी मुझ पै यदि प्रभाव पडा नही,
तो क्षणिक सन्देश से, वीरवर, लाभ क्या ?'
अब, मित्र, मे ही वहाँ जाता, तथा कहना
समाहस सब कुछ गिरि रख छाती पै।

प्रभाकर

क्षमा करना, सखे, यदि एक बात कहूं।

अजेय

कहो, कहो, अवश्य कहो, जो कहना चाहो।

प्रभाकर

प्रेम के पागलो के समान तुम हो गये।

अजेय

ऐसा ?

(कुछ रुककर)

ऐसा तुम मानते ? अच्छा, जो उसने
वचन दिया शुचिता को तो भी यह मेरा
कर्तव्य है सहेजूँ उसे वह सुर कैसा ?
पीतल को सोना मान, रत्न मान काँच को,
भूल में है पड़ी यदि स्नेहलता तो उसे
कौन मेरे सिवा है दिखा सकता सत्य क्या ?

प्रभाकर

फिर एक बात कहता हूँ, क्षमा करना।

अजेय

कहो तुम्हें सकोच क्या मुझसे हो सकता ?

प्रभाकर

स्नेह-वश वर रही जो वह जयन्त को
तो भी तुम मानते वह भूल है करती ?

अजेय

(उत्तेजित हो)

स्नेह-वश ! स्नेह ! स्नेह ! कैसा यह स्नेह है ?

(कुछ रुककर शान्त होते हुए)

मत्स्य न्याय के समान इस प्रणय का भी
कोई नया नाम-करण उचित करना।

(फिर कुछ रुककर विचारपूर्वक)

कहना इसे खेचर-प्रेम ठीक दीखता।
परिवर्तित प्रेमपात्र जैसे खेचरों में
होते सदा, उसी भाँति नभचर सुरों में।
नया पक्ष, नया चन्द्र, नया युग्म सर्वदा,
आहार नया, विहार नया, स्नेह भी नया,
जयन्त है अनन्त, इसीसे प्रेम-पात्र भी
अनन्त हुए, अनन्त हैं, अनन्त ही होंगे।

(फिर उत्तेजित हो)

स्नेह-वश! स्नेह! स्नेह! कैसा यह स्नेह है?

(कुछ रुककर फिर शान्त होते हुए)

और यदि स्नेहलता मानती स्नेह इसे
तो स्वर्ग-सम्पदा है कारण इसका, सखे,
बाह्य छटा से जब चकाचौंध चक्षु होने
विनष्ट है हो जाती सच्ची शक्ति ही दृष्टि की।
अपने लिए नहीं, परन्तु उसी के लिए
उसको बचाना दिखता आवश्यक मुझे।

प्रभाकर

(मुस्कराकर)

इसीको कहते—ठगना अपने आप को।
क्षमा करना कहा मैंने कटु वाक्य तुम्हें।

अजेय

तुम्हें अधिकार है सब कुछ कहने का,
परन्तु मैं फिर वह दुहरा के कहूंगा—
'अपने लिए नहीं परन्तु उसी के लिए
उसका बचाना दिखता आवश्यक मुझे।'
मित्र, इस जगत में बचाना दूसरे से
अपने को कदाचित् कठिन उतना नहीं
जितना है बचाना अपने को अपने से।
सुख जयन्त से उसे कभी न हो सकता।

(कुछ रुककर)

फिर याद आती है मुझे विस्मृत स्मृति सी
बालकाल की कई घटनाएं, घटिकाएं।
अनेक बार खेल में खोती वह निज को
याद रहता न खाना-पीना और न सोना।
धक-धक धधकती हुई धूप ग्रीष्म की,
पड़-पड पडती हुई बूंदे पावस की,
सन-सन बहती हुई समीर शीत की,
कोई जब उसे हटा सकता न खेल से
तब मैं बल से अन्त कर देता क्रीड़ा का।
उस काल तो हो जाती रौद्र रोषानल सी
किन्तु शान्त होने पर कहती—'अच्छा किया।'

(कुछ रुककर एकाएक खड़े हो)

मित्र, इस याद से अवसाद मेरा गया
और एक नवीन मार्ग सूझा है सहसा।

प्रभाकर

कौन-सा ?

अजेय

वह जो भला न निज निहारती
अपने लोभ अथवा पिता-क्षोभ-भय से
बल से करूंगा समाप्त इस प्रस्ताव को।

प्रभाकर

(आश्चर्य से)

कैसे ?

अजेय

(टहलते हुए)

हरण करके स्नेहलता को अभी।

प्रभाकर

(एकाएक खड़े हो, अत्यन्त आश्चर्य से)

अरे ! अरे ! कहते क्या, यह तो जयन्त को
रण-निमन्त्रण होगा, जिसमें अक्षय भी . . .

अजेय

(खड़े हो बीच ही मे)

पक्ष ले लेगा जयन्त का यही न कहते ?

प्रभाकर

(उसी प्रकार के स्वर मे)

हाँ, हा,

अजेय

और मेरी भी प्रण परीक्षा होगी।
इस देश का मै शूर-श्रेष्ठ समझा जाता,
यदि सुर-सग के सग्राम मे जीत गया

प्रभाकर

(बीच मे ही)

किन्तु वह अमर्त्य है।

अजेय

हूँ मर्त्य मै भी नही
मृत्यु-दिवस पूर्व, इसीलिए तो, हे सखे,
मर्त्य या अमर्त्य जो शौर्य मे विशिष्ट होता,
उसी का करती विजय-श्री वरण सदा !

और मृत्यु-वासर ही आया यदि, बन्धु, है,
रण-मरण से निधन श्रेष्ठ है कौन सा ?
युद्ध में जो जय मिली, मिलेगी लता यही,
मिली मृत्यु, मित्र, यदि, जाऊँगा स्वर्ग सीधा
और जब जयन्त वहाँ लता को लायगा,
अमर्त्य में अमर्त्य से लता के लिए पुनः
समर स्वर्ग में भी करूँगा कटिबद्ध हो।

यवनिका

दूसरा अंक

पहला दृश्य

थान—अक्षय के उद्यान का एक भाग

समय—प्रात काल

[स्नेहलता और चपला]

चपला

आश्चर्य है, एक ओर स्वर्ग की श्री, सम्पदा,
अमरत्व चिरयौवन औ' सुहाग सारे ;
तथा दूसरी ओर इनमे से एक नही
और फिर भी यह द्वन्द्व तव हृदय मे।

स्नेहलता

सजनि, जिस पक्ष के पक्ष मे हो कहती,
ढूँढ रही मै वहाँ प्रणय भी है या नही ;
समस्त गुणोयुक्त पक्ष यह प्रेम बिना
वैसा जैसा अलकारो से अलकृत कोई
काव्य सुउद्देश्य रहित रहता तुच्छ है,
या जैसा निर्जीव देह भूषित भूषणो से।

दिव्य है, जयन्त किन्तु मैंने उसमें नहीं
अब तक अवलोका प्रणय मेरे लिए
आया नहीं मेरे पास भेजा एक दूती को।

चपला

दूती ! सजनि, वह प्रिय भगिनी उनकी।

स्नेहलता

परन्तु प्रेम में इन मध्यस्थों का काम क्या ?
यह भी क्या कोई निर्जीव-वस्तु-व्यापार है ?

चपला

किन्तु ब्रह्माण्ड के जो दो सबसे बड़े स्नेही
अम्बर और सागर, मध्यस्थ इनमें भी।
(ऊपर देख)
चिर शान्त अनन्त और,
(पीछे समुद्र की ओर संकेत कर)
सखि, अर्णव है
चिर अशान्त, मध्यस्थ मेघगण इनके,
नेह नीर नीरनिधि का लेकर उड़ते
नभ-सन्देश सिन्धु को देते कर गर्जना।

फिर यही नहीं, दूसरे दृष्टान्त भी कई
वसन्त वन-श्री के पास प्रेम-सन्देश को
कल-कण्ठिनी कोकिला के साथ है भेजता ;
कलि अलि के निकट निज परिमल को
पवन द्वारा भेजती भ्रमर तब आता।
और अजेय ने भी तो. . . . .

स्नेहलता

(बीच ही में)

भला प्रभाकर को ;
इसीसे तो मैंने उसकी बात तक नहीं. . .

अजेय

(एकाएक प्रवेशकर बीच ही में)

किन्तु अब वह उपस्थित स्वयं सेवा में ;
प्रभाकर को भेजने की धृष्टता क्षमा हो।

स्नेहलता

(जो अजेय को देख चकित सी हो गयी थी)

अजेय, तुममें अभी भी बचपन भरा।

अजेय

(मुस्कराकर)

यही यदि चला गया तो रह क्या जायगा ?

स्नेहलता

(गम्भीर होकर)

किन्तु आज मुझे समस्या इस जीवन को
है हल करना, और उसमें लुकाछिपी,
तथा आँखमिचौनी जो खेलते तुम रहे
मुझसे, है नहीं उसका स्थान कोई कहीं।

अजेय

(गम्भीरता से)

मानता हूँ; औ' साथ ही बात एक पूछता।

स्नेहलता

कौन-सी ?

अजेय

जीवन-समस्या को आँख मूँद के,
या किसी बाहरी प्रभाव से प्रभावित हो
चाहती हल करना क्या तुम 'कल्याणि' हे ?

स्नेहलता

(दृढ़ता से)

कभी नहीं।

अजेय

तब यह दौड़ देवी देवों की . . .

चपला

और मानवों की

अजेय

हाँ, हाँ, मानवों की भी नहीं
चाहिए. . .

चपला

(व्यंग से)

तो फिर यह शुभागमन ?

अजेय

हुआ
इसलिए कि श्री शुचिता श्री पधारी यहाँ।

चपला

और श्री प्रभाकर ?

स्नेहलता

(बीच में)

देखो-देखो मुझे तो है
आपत्ति सब आगमनों तथा प्रभावों पै।

अजेय

और जो प्रभाव पिताश्री पै है पड़ रहे ?

स्नेहलता

(आश्चर्य से)

उन पर प्रभाव ?

अजेय

इसमें भी सन्देह है ?

(कुछ रुककर)

मेरे पास, स्नेहलता, न स्वर्ग की सम्पदा, न चिर यौवन और न है अमरत्व ही, किन्तु मेरे पास एक वस्तु जो, वह वहाँ नहीं।

स्नेहलता

कौन-सी ?

अजेय

प्रेम।

चपला

वहाँ पै वह क्यों नहीं ?

अजेय

इसमें कि वह एक पर ही हो सकता। जयन्त है अनन्त और अनन्त उसकी

प्रेयसी भी है। स्नेह स्वर्ग का सदा रहता
पारावत-प्रेम-सा, मारम्स-सा स्नेह नहीं।
पवन जिन पल्लवों से केलि है करता
नवता नष्ट होने पै उन्हीं को गिराता है;
दिव्य देवताओं में दशा सब की है यही
उनके उर में न प्रेम किन्तु है लालसा।

(कुछ ठहरकर)

तन बालकाल में मृदु रहता जितना
मन कम न उससे, और मृदु मन पै
होता जो अंकित सो इस जीवन में कभी
यत्न करने पे भी मिट न सकता, लता।
चेतन तो दूर, जड़ जगत का भी यही
नियम; अबलोको अगणित वस्तुओं को।
पौधों पर खोदा यदि जाता कुछ है, भद्रे,
रहता वह ज्यों का त्यों जब वे तरु होते।
धातुओं पर खुदाव तब ही हो सकता
जब है हो जाती कोमल वे तप-तप के।
अरे! पाषाण पर भी तभी कुछ खुदता
डाल पानी वह बनाया कुछ मृदु जाता।
मेरा मन जब था मृदुल बालकाल में
उस पर भी एक मूर्ति अंकित हो गयी।

मुख मूक, मन मूक, तन भी मूक रहा
पर पूजन चलता रहा अन्तरग मे।
रहता था बाह्य साथ सदा उस मूर्ति का।
भग न हो सग वह इसी महाभय से
अन्तरग-वृत्त कभी तुमसे कहा नही।
और आज भी न यह अवसर जो आता
मूक-पूजन और अर्चन होता रहता,
कहती जब तक न 'वरवूहि', वर दे।
किन्तु जब देखा आज बाह्य अन्तरग को
ग्रसित ग्रहण समान कर रहा, दौडा,
और तुमको तुमसे ही बचाने .....

स्नेहलता

(बीच ही मे)

क्या कहा,
मुझको मुझसे ही बचाने ?

अजेय

क्या याद नही
बाल्यावस्था की, जब तुम्हे तुमसे बचाया
अगणित बार, बल प्रयोग करके भी,
औ' शान्त होने पै तुमने कहा—'अच्छा किया'।

स्नेहलता

अटपटी आज तुम्हारी बातें हैं सारी ये ;
स्पष्ट कहो, कहना जो।

अजेय

कह तो सब दिया।
अब वह कहता जो करना मैं चाहता।
यहाँ आज आया हूँ मैं लेने के लिए तुम्हें।

स्नेहलता

(अत्यन्त आश्चर्य से)

लेने के लिए मुझको ! क्या अर्थ है इसका ?

अजेय

लेने के लिए का अर्थ लेने के लिए होना।

चपला

(क्रोध से)

विक्षिप्त क्या हुए हो ?

अजेय

तुम सब विक्षिप्त हो।
स्वर्ग-सम्पदा ने विक्षिप्त किया पिताश्री को
चपला, तुमको भी औ' कदाचित्

(स्नेहलता की ओर संकेतकर)

इनको भी।

स्नेहलता

(दृढ़ता से)

स्वर्ग-सम्पदा क्या, सम्पत्ति-सर्व-सृष्टि की भी
मुझको नहीं विक्षिप्त कर सकती कभी।

अजेय

समझता यही था, मुनि के प्रसन्न हुआ,
तो अब तक नहीं चुनाव वर का किया?

स्नेहलता

अधिकारी मैं इस सम्बन्ध में सम्मति को,
दे दूँगी पिताश्री को, परन्तु अवकाश ही
मिलता न सोचने का, अप्रभावित रहे।

अजेय

सम्मति का क्यों चुनने का अधिकार तुम्हें
चाहिए होना . . .

चपला

(और अधिक क्रोध से)

क्या बकते, वह पिताश्री का।

अजेय

पितार्थ के लिए अनुचित कुछ कहना ;
परन्तु हो विवश इन्हीं के लाभ के लिए
अनुचित उचित मान कहना पड़ेगा।
जयन्त ने लोभ उन्हें दिये बहु वरों के।

चपला

(अत्यन्त क्रोध से)

और वृद्ध लोभी, व जो लोभ में है आ गये।

अजेय

वृद्धावस्था में लालच बढ़ जाना उलटा।

(कुछ रुककर स्नेहलता से)

सुमखि, जो सम्मति का है अधिकार तुम्हें
वह भी है ढकोसला, चाहे तुम किसी भी
पक्ष में सम्मति दो, दी जाओगी जयन्त को,
इसीलिए आया हूं मैं तुम्हें लेने के लिए।
और प्रार्थना करता समखि चलने की।
वचन हूं देता जब तक न बुलाओगी
सामने न आऊंगा। बिना किसी प्रभाव के
निर्णय करना जिस पक्ष में भी इच्छा हो।
ले चलना तुम्हें मैं चाहता, मृगाक्षि, वहीं
कई बार जो वास पवित्र तुमने किया।

अधिकारी पिता यदि इस अधिकार के--
जिसे चाहे देना तुम्हे, दे देवे सदैव को ;
तो जिसने तुम्हे छोड़ किसी को भी विश्व मे
न चाहा, आराधा, भजा, पूजा, उसकी है क्या
इतनी भी न सत्ता तुम्हे सुखी करने का
यत्न कर वह स्वजीवन सफल करे।

[अजेय की आंखे भर आती है। स्नेहलता उसकी ओर देख जल्दी अपनी दृष्टि दूसरी ओर हटा लेती है। चपला, अजेय तथा स्नेहलता दोनों की ओर देखती है। कुछ देर निस्तब्धता।]

स्नेहलता

किन्तु मे चलूँ क्यो तज के निज-निकेत यो,
निर्बल अबला न हूँ कि पिताश्री भी मुझे
विपरीत मम नीति तथा स्वमम्मति के
पशु-समान बलिदान मे दे दे किसी को।

अजेय

ठीक है, परन्तु कम मे कम सघर्ष का
मार्ग-ग्रहण उचित, तथा गृह-युद्ध को
प्रत्यक्ष मे बचा लेना सर्वश्रेष्ठ पथ है।

[कुछ देर फिर निस्तब्धता।]

स्नेहलता

(गम्भीरता से विचारते हुए धीरे-धीरे चपला से)

कहो, सखि, सम्मति क्या ?

चपला

सम्मति मेरी ?

स्नेहलता

हाँ, हा ?

चपला

(जल्दी से)

मैं तो इस प्रस्ताव के सर्वथा विरुद्ध हूँ।

अजेय

(चपला से)

चाहती तो तुम यह—तुम्हारी प्रिय-सखी
प्रतिकूल इच्छा भी दे दी जाय जयन्त को,
अथवा हो पिता-पुत्री का वाद प्रत्यक्ष में ?

स्नेहलता

(चपला के उत्तर देने के पूर्व ही जल्दी से)

और यदि मैं तुम्हारे साथ नव-मद्य को
चलूँ तो, अजेय, अर्थ इसका यह नहीं
होगा कि मैंने तुम्हें चुन लिया चुनाव में ?

अजेय

(प्रसन्न होते हुए)

कदापि नहीं ! सुभ्रे, तुम बालकाल से ही
जानती हो मुझे; कह दिया सो कह दिया,
मैं धनी धन से नहीं, किन्तु बात से धनी।

चपला

(दुःख से)

परन्तु इस प्रयाण का प्रभाव पिता पै
पड़ेगा क्या ध्यान इसका . . .

स्नेहलता

(बीच ही में)

क्या गयी न मैं हूँ
इसके पहले कभी अजेय-आलय को ?

चपला

किन्तु अवसर आज का,. . .

स्नेहलता

(फिर बीच ही में)

सखि, पिताश्री की
सेवा में समर्पित सर्वस्व कर सकती,

तन तथा तनाधिप-प्राण भी, परन्तु है
प्रेम एक पृथक प्रश्न, औ' वह जीते जी
दिया जा सकता उसीको, जिसे जी चाहता।
स्वतान के लिए वहा सकती स्वरक्त हूं,
परन्तु प्रणय वहाया जा सकता नहीं।

(अजेय से)

चलती हूं मैं तुम्हारे धाम को, हे धीरधी,
मुझे तुम्हारे वचन पै दृढ विश्वास है।

[अजेय का मुख चमक उठता है।]

लघु-यवनिका

दूसरा दृश्य

स्थान––अक्षय के भवन का पूजागृह
समय––प्रात काल के उपरान्त

[पूजा-गृह में खड़ा हुआ अक्षय आकाश की ओर देख प्रार्थना कर रहा है।]

अक्षय

हे हे श्री सुरपति सुत! हा! हा! यह हुआ,
यह हुआ, कृपानाथ! तव कृपा पात्र पै!

मुझ पर यह दारुण दुःख दुर्दैव सा ;
घोर घात से भी घोर तथा उल्का-पात सा।
आज जब जगा तब क्या क्या सोच के उठा
औ' यह क्या हुआ, . . .क्या हुआ, देव देवेश हे !
जब उठा, थी उदयाद्रि पै उदित उषा
उस काचन कान्ति में एक आभा और थी
रुचिर रुपहरी प्रभात के नक्षत्र की।
निर्मल हुआ था जो सद्यः सर के स्नान से।
वह सरोवर जहाँ नहाया नक्षत्र था
नीचे था उसी के, उसमें एक कमलिनी
उत्फुल्ल हो उठ के उडु को थी छू-सी रही।
दृश्य यह देख, देव ! मेरे उर में उठा
आप नभ-नक्षत्र लता पृथिवी-पद्मिनी,
और उषा-सुवर्ण-सुषमा मम-भाग्य-श्री।
किन्तु हुआ हाय ! यह कल्पना के भी परे।
जब चला स्नान को, चला मन्द मारुत भी
मुकुलों ने ओस बिन्दु ढरका-ढरका के
अर्घ्य अनिल को दिया, मम-मन में आया
आज जब ऐसी ही स्वर्ण-द्युति दिनान्त में
फैलेगी, अर्घ्य आपके पदों में देगी लता।
किन्तु हा ! हुआ जो आया न था विचार में भी।
जब स्नानोपरान्त प्रार्थना को गया, प्रभो !

देखा देवालय दूर्वामय धरा में घिरा
लखते थे लोचन नित्य ही उस दृश्य को,
किन्तु आज अगणित दूर्वादल देख के,
तथा उनकी वह हरित छटा छिटकी,
सोचा, असख्य सुख समृद्धियुक्त होगा यों
हरा-भरा लता का जीवन सग आपके।
फिर दूर्वा तो कभी कुम्हला सूख जायगी,
किन्तु कहाँ कुम्हलाहट औ' शुष्कता वहाँ
केवल हरीतिमा ! हरीतिमा ! हरीतिमा !

(कुछ रुककर)

बैठा जब प्रार्थना में प्रशान्त प्रबुद्ध हो,
आर्या तब प्रमोद-उद्यान की प्रहरिणी,
मानो वह प्रलय-पयोधि की महोर्मि थी;
अथवा लय काल की उलका आकाश में।
आके उसने कहा जो हुआ उपवन में;
नष्ट-भ्रष्ट हुआ मेरा सुख साम्राज्य सारा;
मानो स्वर्ण-स्वप्न था, विलग सत्य विश्व से।

(फिर कुछ सोचकर)

क्या यह सब कुछ सचमुच ही स्वप्न था ?
हे नाथ ! स्नेहलता क्या जन्मी ही नहीं कभी ?
कोई सभ्रम छाया दिखती क्या मुझे रही ?

और क्या आपका पावन-पदार्पण नहीं
हुआ' मम-सद्म में बन प्रेम-पथ-पथी ?
समझा था मैं तो यह देव औ' मानवी की
प्रेम-कथा, प्रेम-गीत बन कठ-कठ से
घर-घर, घाट-घाट, बाट-बाट में सदा
गायी जायगी और सुख को बरसायगी।
परन्तु हाय रे भाग्य ! . . . .

जयन्त

(एकाएक प्रकट हो; अब वह कवच और शिरस्त्राण पहने तथा आयुधों से सुसज्जित है।)

धैर्य, अक्षय, धरो।

अक्षय

(जयन्त को देख धरती पर सिर रख प्रणाम कर, फिर खड़े हो, हाथ जोड़)

धन्य-धन्य, नाथ, धन्य, यह किंकर हुआ,
दीन मैं, दीनबन्धु, तारो मुझे तारक हे !
तो नहीं स्वप्न था, सत्य सब कुछ, देव, था।

जयन्त

सत्य, किन्तु तुम्हें तार अब तक न सका।

अक्षय

आपकी उपस्थिति ही तरण की सूचना।

आप दिव्य, दिव्य वीर, दिव्यायुध, दिव्य धी,
गरिमामय, शत्रुजय, मृत्युजय, प्रभो!

जयन्त

किन्तु जब अजेय-जय, लता-जय होऊँ,
तारक तुम्हारा तो तभी हो सकता मैं हूँ।

(कुछ रुककर)

अक्षय, अब जब अजेय से उबार के
लाऊँगा लता को, तब तो वह मेरी होगी?

अक्षय

मेरी ओर से मैंने उसी दिन उसे दिया
आपको, आपने जिस दिन उसे था माँगा,
किन्तु कुछ स्वेच्छाचारिणी वह, इसीलिए
देने स्वसम्मति उससे कह दिया मैंने,
भूल यह भारी हुई, महामते, मैं

जयन्त

नहीं,
नहीं, अक्षय, सोने में सुगन्ध की बात थी,
परन्तु अब तो यह रहेगा न प्रश्न ही,
मार मर्त्य अजेय को जब लाऊँगा उसे।

लघु-यवनिका

तीसरा दृश्य

स्थान—अजेय के गृह का कक्ष
समय—मध्याह्न के समीप

[अजय और प्रभाकर]

अजेय

सच, यह सभया नहीं किन्तु है अभया,
अबला नहीं सबला है, औ' कोई काम भी
किया ऐसा न, जिससे लज्जित होना पड़े
परन्तु प्रयाण है कैसी इस समाज की
मानवता के मूल सिद्धान्त ही ढक लेती
इसी प्रकार जैसे अभ्र निर्मल नभ को,
या सिवार सरोवर के अमल जल को
अथवा, मित्र, झाड़-झखाड़ मूल झाड़ों की।
हरण कर मैं न उसे लाया, वह आयी
स्वयं, और स्वकृति पै भी विचलित ऐसी
जैसी होती मृगी व्याध-बाण से विदीर्ण हो,
अथवा पारावती बहेलिये के जाल से;
या मछली मछुए के जाल के जंजाल में।
जैसी इन भूचर, खेचर, जलचरों को
होती अति विकलता वैसी उस एक को।

यद्यपि यहा वह आयी अनेक बार है,
किन्तु इस काल की, तो अति विचित्र दशा।

प्रभाकर

आह्लाद अवसाद के अन्तर, अजेय, ये
अवसर अनुसार होते मनोवृत्ति में;
वही वस्तु, वही स्थान सुख एक काल में
देते, औ' वही दुख दूसरे समय, सच।
ग्रीष्म ऋतु में शीतल समीर जो सुखदा,
दुखदा है वही वायु शीत काल में बड़ी।

[जयन्त एकाएक प्रकट होता है। उसे देख अजेय और प्रभाकर खड़े हो जाते हैं। दोनों उसका अभिवादन करते हैं, परन्तु जयन्त इन अभिवादनों का कोई उत्तर नहीं देता।]

जयन्त

(अजेय से)

रे, रे, अजय! तूने तस्करवत क्या किया;
क्या तू समझता तेरा पाप छिप सकता?
गन्ध की चोरी कहीं . . . .

अजेय

(बीच ही में)

जयन्त, क्षमा कीजिए,

आपके सुमुख से सुशब्द ही शोभा देते
अपशब्द असुन्दर बनाते सुन्दर को

जयन्त

चोरी पर यह सिरजोरी! चोरों की नहीं
है नयी बात कोई।

अजेय

चोरी किन्तु किसने की ?

जयन्त

बड़ा साव ! बड़ी साख !

अजेय

साव नहीं, साख भी
नहीं, परन्तु जो साव नहीं, है वे चोर क्या ?

जयन्त

तस्कर बन लाया लता को उपवन से
और कहता है चोर नहीं !

अजेय

मैंने था सुना
सुर स्त्रियाँ तथा सुर सुरलोक के होते

त्रिकालज्ञ, किन्तु देखता हूँ अनभिज्ञ वे
न केवल भविष्य से, परन्तु भूत से भी।

जयन्त

अरे ! तू मर्त्य हो अमर्त्य का अपमान यों
कर रहा, क्या काल नाचता सिर पर है ?

अजेय

काल आया तो चला जाऊंगा और पाऊंगा
विश्राम विश्व की विविध विपत्तियों से मैं ;
किन्तु यदि आया न, तो मर्त्य भी अमर्त्य है।

जयन्त

(घृणा से अट्टहासकर)

मर्त्य अमर्त्य वत ! छुई-मुई मर्त्य जो है !

अजेय

जयन्त, मरना तो मानवों की महानता।

जयन्त

(फिर उसी प्रकार का अट्टहासकर)

मरना महानता है !

अजेय

हाँ, हाँ, है महानता।
मृत्यु-विहीन जीवन नीरस है वैसा ही

ज्यों नाटक अन्त बिना, भाषण मौन बिना,
जागृति नींद बिना, वासर रजनी बिना।

जयन्त

अच्छा यह मृत्यु मांगलिक तुझको रहे,
किन्तु कहो, तूने, क्या सोच स्पर्धा सुर से की ?
सौन्दर्य में, सद्गुणों में, किनमें है समता ?

अजेय

यद्यपि स्पर्धा कोई की है न आपसे मैंने,
परन्तु प्रश्न यदि समता के है उठते
तो फिर करूंगा कुछ निवेदन सेवा में।

जयन्त

कह—कह क्या कहता है ?

अजेय

आपने उठाये
प्रश्न दो—सौन्दर्य और सद्गुणों की समता के।
आपकी महान सुन्दरता के सम्बन्ध में
सन्देह क्या है, किन्तु एक कठिनाई बड़ी ;
जब आप देखते हैं मुझको, तब नहीं
अपने को, और जब दर्पण में अपने को
तब मुझको नहीं, अतः तुलना हो कैसे ?

जयन्त, सौन्दर्य होगा अधिक आपका ही
किन्तु चले मग सम्मुख मुकुर के दोनों
तब ज्ञात पड़ेगा किसमें है विशेषता।

[नेपथ्य में स्नेहलता का अट्टहास सुन पड़ता है। जयन्त चौंककर इधर-उधर देखता है। उसके मुख पर क्रोध के भाव दिखायी पड़ते हैं।]

अजेय

फिर सुन्दरता, देव, प्रश्न है रुचि का भी,
और रुचि-वैचित्र्य तो विख्यात है विश्व में।
इसी तरह सद्गुणों का सम्बन्ध है उनका
परिचय स्वर्ग में दिया जा सकता नहीं,
कर्म-रहित यह केवल भोग-भूमि है,
सद्गुणों की परीक्षा तो होती मर्त्यलोक में।

जयन्त

(अत्यन्त क्रोध से)

रे, रे, मर्त्य मानव! मुझसे व्यंग करता!
इस धृष्टता से निज अनिष्ट तूने किया।
तेरा तन मम-रौद्र रोषानल गण से
विनष्ट करेगी, रक्तरंजिता धरा होगी।
यद्यपि इस द्वन्द-युद्ध योग्य तू है नहीं,
समर सदा समान समर्थों में सजता।

परन्तु पराभूत पल में करके तुझे
मुझे अक्षय के पास है ले जाना लता को।

अजेय

शूर शिरोरत्न, शत-शत साधुवाद है,
रण का निमन्त्रण जो आपने मुझे दिया,
सम्मान है बढ़ाया मेरा, स्वीकार है मुझे;
परन्तु पथ और कौन था आपके लिए?
पधारिए पयोधि-तट तैयार हो अभी
आता मैं, और संग्राम में सहर्ष जूझूँगा।

[जयन्त तभककर अन्तर्धान होता है। प्रभाकर अजेय से कुछ कहने को उसकी ओर बढ़ ओठ खोलता ही है कि स्नेहलता का शीघ्रता से प्रवेश। स्नेहलता को देख प्रभाकर की मुँह की बात मुँह में ही रह जाती है और प्रभाकर का प्रस्थान।]

स्नेहलता

(कुछ आगे बढ़)

अजेय, अब तक न मैंने तुमको चुना,
समर-समाप्ति पर चुन लूँगी यह भी
आश्वासन नहीं, अतः मृग मरीचिका पै
शरीरों के जूए में दाव यह शरीरी का।

अजेय

शुभ, शरीरों का न यह प्रेम का जूआ है,
दाव इस जूए में प्राण ही सदा रहते;
जीत पर मिलते और जाते हैं हार पै।

स्नेहलता

मिलते तो हैं तभी न जब लगा हुआ हो
वही दाँव दूसरी ओर से।

अजेय

किन्तु रहते
कभी-कभी बराबरी के दाँव नहीं, शुभे।
अच्छा विदा लेता, लता, जेता हुआ रण में
तो पुनः दर्शन, अन्यथा होंगे चरण में
अर्पण प्राण।

(जाने लगता है।)

स्नेहलता

(जल्दी से)

अजेय, तनिक तो ठहरो।

अजेय

(रुककर)

सदा तव-सानिध्य में ही, हे सुमुखि, मैं तो

चाहता हूँ ठहरना; किन्तु ठहरा हुआ
सुर वह समर-हित सागर-तट पे,
यदि हुई देरी तो कहेगा कायर मुझे;
और किसी सच्चे साहसी को अपमान की
इससे बड़ी उपाधि दी जा सकती नहीं।

स्नेहलता

किन्तु प्राण-अर्पण आयोजय, अजेय, हो
कर रहे प्रत्यार्पण की निश्चिन्तता बिना।

अजेय

(प्रेममय मुस्कराहट से)

बिना प्रत्यार्पण के अर्पण की महानता
प्रेम के पथ का पथिक ही जान सकता,
और इसी को कहते विसर्जन-स्नेह है।
फिर निज को अर्पण किया तुमने नहीं,
पर कर चुका मैं तो अर्पण अपने को,
मेरी ओर से बोली, बोली जा चुकी क्रय की।
बिना प्रत्यार्पण प्राण-अर्पण में तेज जो
प्रत्यार्पण-पश्चात् कदाचित् हो नहीं सकता।
और जीवित रहते बलात्कार तुम पै
देख कैसे सकता, तुम्हीं सोचो, सुलोचने!
(फिर जाने लगता है।)

स्नेहलता

सुनो . सुनो. सुनो ..

अजेय

(न रुककर जाते हुए)

पश्चात् अब इस रण के,
या तो यहां, या फिर जहां, सुमुखि, जाओगी
जयन्त के संग, वहीं आकर मैं सुनूँगा।

[अजेय का प्रस्थान। स्नेहलता स्तब्ध-सी रह जाती है। कुछ देर निस्तब्धता।]

स्नेहलता

(ऊँचे स्वर में)

चपला हे चपला!

[चपला का प्रवेश।]

स्नेहलता

(उसे देखकर)

हाय! इस विग्रह ने
विकल, व्यथित, विपन्न, सखि, मुझे किया।

चपला

किन्तु हुआ यह तुम्हारे तो यहां आने से।

स्नेहलता

मानती, इसी से तो दारुण दुःख हो रहा।

(कुछ रुककर)

तो प्रेमाधीन प्रमदा प्रेम-प्रवाह नहीं,
परन्तु यथार्थ में कलह का कारण है।

(जल्दी से प्रस्थान और एक कटार लेकर प्रवेश।)

चलो, चलें वहाँ, सखि, जहाँ समर होता।
दोनों बचे तो चुन लूँगी एक को मैं वहीं।
और जो एक गया स्वर्ग, मर समर में

(कटार दिखाते हुए)

प्रेम-यज्ञ में निज की आहुति मैं भी चढ़ा,
चढ सीधी त्रिदिव को, चुनाव यह वही
करूँगी अजेय और जयन्त के बीच का।

(जाने लगती है।)

चपला

(घबड़ाकर)

ठहरो, ठहरो, सखि, कहाँ यों हो जा रही,
क्या अवसाद ने प्रमाद को उत्पन्न किया,
और जो ज्ञानमयी वही ज्ञानहीना हुई?

[स्नेहलता नहीं रुकती और चली जाती है। चपला भी पीछे-पीछे जाती है।]

चौथा दृश्य

स्थान––स्वर्ग में महेन्द्र के प्रासाद का कक्ष
समय––मध्याह्न

[महेन्द्र और शची चौकियों पर बैठे हैं। एक देव-दूत सामने खड़ा है।]

महेन्द्र

तो तूने, दूत, देखा जयन्त को निकालते
शस्त्र शस्त्रागार और अस्त्र अस्त्रागार से ?

दूत

इतना ही नहीं, किन्तु, सुरराज, सजते
समर के निमित्त भी मैंने अवलोका है।
कल कुंचित केशों के कलाप को बाँध के
प्रकाशमान शिरस्त्राण शोभित शीश पै
किया, जैसे उदित उदयाद्रि पै सूर्य हो।
विभामय वर्म विशाल-वक्ष पै पहना
ज्यों इन्द्र-चाप-चारु रवि रश्मियों ने रँगा।
कटि में सुनहरी सारसन सरसाया
चमका कनक करों से हिमहिमाद्रिका।
झलमल झूला खड्ग खड़-खड़ खडका।
धारे धीर ने धनुष, तूणीर तीरों भरे।

जगमग ज्योतिर्मय कुन्त कर मे लिया।
प्रभापूर्ण प्रहरणों से प्रदीप्त वे हुए
प्रकटा पौरुष हो मानो मूर्ति-मन्त हो के।
मैने न भूत मे कभी भीमाकृति भैरवी
उनकी विलोकी ऐसी जैसी आज, नाथ हे!

महेन्द्र

किन्तु सुरासुरो मे सन्धि है समर नही;
है आया किसका कराल-काल त्रिलोक मे?

दूत

धीमा-धीमो ध्वनि धरा मे प्रार्थना की, प्रभो,
आयी और गये मर्त्य-लोक को सवग वे।

महेन्द्र

(कुछ आश्चर्य से)

परन्तु भूमि पै भीषण रण ठानने को?

शची

की था न निवेदन एक दिन, नाथ, मैने
उसकी और अक्षय-सुता की स्नेह-गाथा?

महेन्द्र

(कुछ विचारते हुए)

हाँ, हा, स्मरण आया, और स्पर्धा भी उसकी
किसी से थी न?

शची

हां, अजेय उसका नाम है।

महेन्द्र

मानव है ?

शची

हां, तुच्छ मनुज

महेन्द्र

यह युद्ध तो
शुभ, नर के स्नेह संघर्ष का सन्धान है !

(कुछ रुककर दूत से)

अच्छा, वायुपत, तुम विश्राम अब करो।

[दूत का अभिवादनकर प्रस्थान। महेन्द्र कुछ देर विचारमग्न रहता है। शची उसकी ओर देखती रहती है। कुछ देर निस्तब्धता।]

महेन्द्र

देखो, शची, शौर्य मेरा जैसा तुम जानती।
सृष्टि में जितने भी शक्तिशाली कृत्य होते
मेरे प्रबल बल से, दल से, कौशल से।
मेरे पास संहार के भी साधन सहस्रों।

घन घुमड़-घुमड़ घोर घोष करते
बरस-बरस मूसलाधार बाढ़ लाते
औ' कभी बरसाते पड़ापड़ पत्थरों को।
दमक-दमक दामिनी चौंधाती चक्षु जो
कड़क-कड़क कभी गिरती धरती पै।
उखाड़-उखाड़ फेंकता झंझावात क्या-क्या!
थर थर थर्राती कभी धरा, भूधर भी।
उगल-उगल ज्वालामुखी ज्वाला, जलाते।
होता कल्लोलित औ' आलोड़ित अम्बुधि भी।
परन्तु मृत्यु पर है न अधिकार मेरा,
किसी को समय पूर्व न मार मैं सकता।
अमर्त्य अमर, मर्त्य एक दिन मरते,
पर मर न सकता अजेय काल बिना,
और जो जयन्त से विशेष पौरुष हुआ
सुर की पराजय होवेगी उस नर से।
महा देव-बल है, महान अस्त्र शस्त्र है
तथापि कई बार सुर हारे मानवों से।
एक तुच्छ मानवी पर किसी गीर्वाण का
अन्ध, अतुल, असीम, अनुराग ऐसा, जो
द्वन्द युद्ध में प्रदत्त उसे नर से करे,
जीत हार दोनों ही हो सकती है जिसमें,
न वाञ्छित विधान है, विपत्ति है! विष है!

होगा क्या हारा जो जयन्त उस अजेय से
मिलेगी न मानवी, कीर्ति भी कर्पूर होगी,
न उसी की, परन्तु समस्त सुर लोक की।

शची

ठीक कहते, नाथ हे, किन्तु है उपाय क्या ?

महेन्द्र

(गम्भीरता से विचारते हुए)

यही तो हूँ सोचता, जयन्त है हठी बड़ा।

[महेन्द्र सिर झुका अत्यन्त गम्भीर हो जाता है। शची उसकी ओर देखती है।]

यवनिका

तीसरा अंक

पहला दृश्य

स्थान--पृथ्वी पर एक मार्ग
समय--मध्याह्न के उपरान्त

[नेपथ्य में शंख बज रहा है। अनेक मनुष्य बायीं ओर से बातें करते-करते आते हैं।]

एक

अजेय जयन्त में जब से इस स्पर्द्धा की
बात फैली तभी से

दूसरा

हाँ, उपद्रव की तो थी
शंका।

तीसरा

और आज अजेय-आलय में आर्या
लता, जब यह सुना, तब से निश्चित था
कोई न कोई महान विग्रह ;

चौथा

सो हुआ ही ।

पाँचवाँ

पर समर तक बात पहुँच जायगी
यह न सोचा

छठवाँ

(बीच ही में)

तो सोचा क्या था ? मैंने तो यही ।

सातवाँ

हाँ, हाँ, किसी भी झगड़े के निराकरण को
अन्तिम साधन तो बल ही है जगत में ।

आठवाँ

अच्छा-अच्छा, चलो जल्दी अजेय के आते ही
देर लगेगी नहीं संग्राम के आरम्भ में ।

[सबका दाहनी ओर प्रस्थान । बायीं ओर से फिर कुछ मनुष्यों का प्रवेश ।]

एक

हाँ, मैं कहता हूँ सुर नर के समर में
नर न जीत सकता ।

दूसरा

न जैसे जीता कभी ?

तीसरा

देखो न इतिहास, अनेक बार जीता है।

चौथा

और आज भी अजय ही जायेगा, देखना।

पहला

चाहता मैं भी यही किन्तु . .

पाँचवाँ

(बीच ही में)

किन्तु का काम क्या ?

छठवाँ

छोड़ दो इस किन्तु को तथा परन्तु को भी
और दो आशा शुभाशिर्वाद अजय को।

सातवाँ

तथा बोल दो जै अजेय की

सब

(एक साथ)

अजेय की जै !

[सब का दाहनी ओर प्रस्थान। बायीं ओर से फिर कई व्यक्ति आते हैं। अनेक के हाथों में अनेक प्रकार के बाजे हैं।]

एक

झनन् झनन् झांझर बजाऊंगा मैं!

दूसरा

और मैं

घनन् घनन् घन्टा!

तीसरा

(अपने ढोल की ओर संकेतकर)

नगा चर्म इस पै अत

ढमाढम् खूब गूँजेगा।

चौथा

और मेरी भेरी भी

भीमनाद करेगी यों जैसा कभी न किया।

पाँचवाँ

जीवन में सुर-नर-समर कब होगा?

[सबका दाहनी ओर प्रस्थान। बायीं ओर से फिर कुछ व्यक्ति आते हैं।]

एक वृद्ध

मैंने उसे बालकाल से ही है अवलोका।

दूसरा वृद्ध

हाँ, मैं भी बहुत घूमा हूं, पर देखा नहीं
ऐसा मिश्रण मृदुता और प्रखरता का।

तीसरा

है गौरव अजेय हमारा हर भाँति से।

चौथा

किन्तु हाय! चला आज!

पाँचवाँ

ऐसा क्यों विचारते?

[दाहनी ओर प्रस्थान। कुछ मनुष्य फिर बायीं ओर से आते हैं।]

एक

तुम तो हो मित्र उनके क्यों नहीं रोकते?

दूसरा

आ जाती मृत्यु जिसकी, बुद्धि नष्ट होती है,
मान सकता वह किसी का भी कहना क्या?

[दाहनी ओर प्रस्थान। कुछ का बायीं ओर से फिर प्रवेश।]

एक

गुण-गेह है, फिर भी यह मूर्खता कैसी ?
एक स्त्री के लिए जो प्राण देने जा रहा यों।

दूसरा

पर न जाने कितने गुण-गेहों ने दिये
निज-निज प्राण इन प्रमदाओं के लिए।

तीसरा

हाँ, रमणी रही प्राण-ग्राहक सदैव से।

चौथा

और मूल विश्व के अधिकांश विग्रहों की।

[दाहनी ओर प्रस्थान। बायीं से कुछ स्त्रियों का प्रवेश।]

एक

है नहीं वह मानवी, है वह राक्षसिनी।

दूसरी

हाँ, जिसके संग खेली, कूदी, रही, उसी के
मरण का रचा रही आज आयोजन यों।

तीसरी

वृथा दोष दे रही, स्वयं को रख उसके
स्थान पर, सोचो तो तूमने क्या किया होता
मिलता जो अमरत्व औ' स्वर्ग की सम्पदा ?

चौथी

पर मेरा तो कहना ही कुछ और है ?

पांचवी

क्या ?

चौथी

चाहती जो देवलोक क्यों नहीं जयन्त को
चुन लेती, वृथा का विग्रह क्यों करा रही ?

सातवीं

अच्छा, अच्छा, चलो सुर-नर-रण तो देखो।

[दाहनी ओर प्रस्थान। बायीं ओर से फिर कुछ पुरुष आते हैं।]

एक

मैं तो कहता समर से सुन्दर विश्व में
दृश्य कोई नहीं।

दूसरा

और फिर सुर नर के।

तीसरा

तब तक जब तक स्वयं दर्शक रहे।

चौथा

और 'साधु साधु' तथा 'धन्य धन्य' बोल के
उत्साहित किया करें लड़ते हों जिनको।

[हँसते हुए दाहनी ओर प्रस्थान। बायीं ओर से फिर कुछ मनुष्य आते हैं।]

एक

अजेय का व्यक्तिगत प्रश्न यह है नहीं।

दूसरा

तब ?

पहला

है यह मानवों औ' देवों के बीच का।
जा न सकते स्वर्ग को हम, देख भी नहीं
सकते सुरनारियों और अप्सराओं को,
फिर हमारी स्त्रियों पर देवों की दृष्टि क्यों ?

तीसरा

ठीक है इसीलिए मैं तो उस जयन्त से
कहूँगा अजेय तो अजेय इस लोक में
प्रथम मुझसे तो समर कर देख लो।

[दाहनी ओर प्रस्थान। बायीं ओर से फिर कुछ स्त्रियों का प्रवेश।]

एक

पहले तो वृद्ध पिता को तजकर भागी,
आयी अजेय-आलय में किन्तु वहाँ आया
ज्योंही जयन्त छोड़ा अजेय को भी औ' कहा
'लड़ो दोनों, जो जीतेगा ब्याहूँगी मैं उसको।'

दूसरी

किन्तु यदि यही किया तो बुरा क्या उसमें ?
सौन्दर्य जब समझा जाता मूल्य नारी का
नारी भी समझती नर का मूल्य वीरता।

तीसरी

पर यह लता का विश्वासघात है महा,
है वचन उसने दिये अजेय को जो-जो
बाल्यावस्था से अब तक, उन्हें मैं जानती।

चौथी

मैं कहती वचन न उसने कोई दिया
तुम कर रही उसकी बुराई डाह से।

तीसरी

(क्रोध से)

डाह मुझे !

चौथी

(जोर से)

अवश्य !

तीसरी

(चिल्लाकर उँगलियाँ तोड़ते हुए)

कलमुँही !

चौथी

(और अधिक चिल्लाकर उसी प्रकार उंगलियाँ तोड़ते हुए)

खड़पगी !

पाँचवी

अरे ! अरे ! यह क्या ?

छठवी

फिर मार्ग में चलते !

सातवीं

(छठवीं स्त्री को पकड़कर हिलाते हुए)

आठवीं

चलो, चलो, नहीं तो रण न देख पायेंगी।

[सब का दाहनी ओर प्रस्थान। बायीं ओर से एक पुरुष, स्त्री और कुछ बच्चों का प्रवेश।]

एक बच्चा

क्यों, माँ, अजेय को क्या और स्त्री मिलती न थी ?

स्त्री

(मुस्कराकर पुरुष की ओर देखते हुए बच्चे से)

यह, बेटा, पूछ तू अपने पिता से।

पुरुष

(अट्टहासकर स्त्री की ओर देखते हुए)

अच्छा !

[दाहनी ओर प्रस्थान। बायीं ओर से स्नेहलता और चपला का प्रवेश। स्नेहलता बहुत ही उदास है।]

स्नेहलता

सुना, सखि, कैसे-कैसे भाव हैं मेरे लिए ?

चपला

संसार है, सजनि, ये भिन्न-भिन्न वृत्तियाँ।

स्नेहलता

परन्तु इस धूम में अग्नि छिपी सर्वथा,
मेरे भी हृदय, यह तक न सोचा जाता।
दौड़ रहे देखने सब पार्थिव रण को,
पर मेरे हृद-युद्ध को कौन है देखता?

[स्नेहलता इस प्रकार धीरे-धीरे जाती है मानों उसके पैरों में सीसा भर गया हो। जाते-जाते वह अपनी कटार को देखती रहती है। पीछे-पीछे चपला का भी प्रस्थान।]

लघु-यवनिका

दूसरा दृश्य

स्थान--आकाश में एक विमान

समय--अपराह्न

[विमान में शची और शुचिता बैठी है। विमान हिल रहा है, जिससे जान पड़ता है वह चल रहा है।]

शची

तो तूने देखा दृश्य उस युद्ध नाटक की
यवनिका के उद्घाटन से अब तक का ?

शुचिता

हाँ, माँ, आरम्भ से।

शची

बता तो संक्षेप में मुझे
जब तक हमारा विमान वहाँ पहुँचे।

शुचिता

देखना न दृश्य द्यौ में युद्ध का थी चाहती,
इसीलिए रथ पै न जा, विमान पै गयी।
जब मैं समर भूमि के ऊपर पहुँची
सिन्धु-तट पर अकेले घूमते भ्राता थे।

शची

अकेला ही ?

शुचिता

हाँ, अकेले औ अद्भुत उनके
कम्बु का अम्बुधर सम शब्द था हो रहा।

शची

किन्तु तूने तो कहा--जन-समुदाय ऐसा
एकत्रित था वहाँ, मानो सागर हो भरा,
अथवा रेणु की राशि-राशि मरुस्थल में,
या घने वन में पतझड की पत्रावली,
अथवा उद्यान की पुष्प-सृष्टि वसन्त में।

शुचिता

वह कभी अम्बुधर गर्जन सम ओले
ज्यो गिरते तडातड त्यो कम्बु गर्जना के
साथ-साथ इकट्ठा हुआ दशो दिशाओं से।
आये देव देवलोक से नभ-मार्ग द्वारा,
तथैव दैत्य पाताल से पयोधि पथ से,
औ' आठो काष्ठाओ से मानव पहुंचे'। छाया
विमानो से अम्बर, अम्बुधि जलयानो से,
गजों, अश्वों, रथो, पदातियों से पृथ्वी भरी।
फैला था बह्नि समवृत्त यह विग्रह का,
थी महा महानुभूति नरो को अजेय से,
जो उनके सवादो, दृष्टियो से ज्ञात होती।

शची

औ' सुरो को न सुत से ?

शुचिता

थी पर वैसी नहीं।

शची

यह क्यों ?

शुचिता

इसलिए कि जयन्त अमर थे
और अजेय हथेली पर धर प्राणों को
उतरने वाला था उस समरांगण में।
जितना बड़ा दाँव, सहानुभूति भी वैसी।

शची

तेरी समवेदना भी अजेय के प्रति क्या ?

शुचिता

(इसका कुछ उत्तर न दे, मुस्कराते हुए)
देखने लगे सभी ग्रीवाओं को उठा-उठा
चक्षुओं को फाड़-फाड़, दृष्टियां गड़ा-गड़ा,
अजेय को, जो न वहाँ अब तक आया था।

शची

आया था क्यों नहीं अजेय समर क्षेत्र पै ?

शुचिता

विलम्ब लगा था संग्राम छिन्न सजने में,
आते ही माँगी क्षमा, देर का कारण कहा।
देखते ही उसे नरों में जै-जैकार हुआ,
मानो असंख्य शतघ्नियाँ एक साथ छूटीं।
मैंने प्रथम बार देखा उस मानव को,
किसी दिव्य देव से द्युति तथा सौन्दर्य में
कम न था वह। भाई और अजेय दोनों
दिखते थे एक से उस समर-भूमि में।

शची

उसके आते ही आरम्भ रण हुआ लगा?

शुचिता

नहीं, माँ, समय लगा, पहले तो दोनों ही
घूमते यों लगे घूरते एक दूसरे को
ज्यों दो केसरी किसी एक कानन-स्थली को
प्रभुता-प्राप्ति-हेतु विग्रह जब ठानते।
उनकी सिंह चाल ने चित्रित वहाँ किया
वीररस और अधिकांश समुदाय में
समर की उमगों से उल्लासित हो उठे।
प्रतिपदा को मध्याह्न उपरान्त ज्वार का
होता काल, सागर महोर्मियों से था भरा,

जन-सिन्धु में भी हिलोर पै हिलोर उठी।
बजे घनाघन घंटे, झनाझन झालरें,
ढमाढम ढोल औ' भेरियाँ भीमनाद में।
उठा-उठा शुण्डों को चिघ्घाड़े गज गाज से,
पटक-पटक टापें हींमें हय रोष से,
रथों में रथियों के हाथ अपने आप ही
चले गये चापों पर जो टकारित हुए।
पदातियों के करों ने खड्ग खड़खड़ाये।

शची

ये दर्शक औ' इतने उत्तेजित हो उठे!

शुचिता

हाँ, दोनों वीरों की चाल औ' नाद ही ऐसा था।
किन्तु इस उमंग के साथ-साथ चिन्ता भी
कई के मुखों पर थी।

शची

यह क्यों?

शुचिता

इसलिए
कि भ्राता अमर थे और प्राण अजेय के
बचेंगे या जायँगे, कोई था जानता नहीं।

(कुछ रुककर)

इस घोर घोष ने दोनों प्रतिस्पर्धियों पै
प्रभाव अपना डाला, जूझे वे गरज के।
चमक-चमक चौंधाती चक्षु थी असियाँ,
दमक-दमक दामिनी मानो थी लड़ती।
उछल-उछल दोनों प्रहार थे करते
बदल-बदल पैंतरे बचाते उन्हें थे।
प्रहार जब कोई बचता न, पड़ता था
कवच पर और ध्वनि झनन्-झनन् होती
चिनगारियाँ निकलतीं, सन्देह था होता
ज्वालामुखी अचल हो चचल हो गये हैं।
जब पाँसा पड़ता था पक्ष मे अजेय के
नर समूह 'साधु-साधु' समोद कहता।
और दाँव जब जाता जयन्त के पक्ष मे
'धन्य-धन्य' कहता सुर समुदाय सारा।
हाँ, दैत्य थे तटस्थ, औ' वे बोलते दोनों की
बल तथा कौशल की विशिष्ट वृत्तियों पै।
शूल फिर चले जाज्वल्यमान उल्काओं से
तथा अनेक शस्त्र परशु मुद्गरादि भी।
इसी बीच दन्ती, सैन्धव, स्यन्दन स्वर्ग से
पहुँचे जयन्त के, जो अक्षय समस्त थे।

उन्हे देख नर भी निज-निज वाहन ले
आये अजेय-निकट विलम्ब हो के कहा
रथो, गजो, हयो पै विराज रण कीजिए।
बैठे दोनो रथो पै, घोर शर-युद्ध हुआ,
चले अनगिनती तीर रवि-रश्मियो मे।
जयन्त ने अजेय का स्यन्दन जब तोड़ा
तुरन्त जा बैठा वह दूसरे शताग पै
और फिर से लगा रण विकट करने।
अक्षय होने से जयन्त का रथ न टूटा,
किन्तु जब टूटे अजेय के स्यन्दन कई
कूदा अजेय भाई के शताग पै जा के यो
मानो किसी गृहस्थ के गृह पै जलाने को
फेंका हो अरि ने अचानक अनल गोला।
तजा तत्काल जयन्त ने उस स्यन्दन को
दग्ध होते गेह मे कौन ठहर सकता?
अब दोनो बैठे वाजियो पै, उछाले भाले।
त्वरा-तुमुल यह था, तुरग-गति यों थी
दिखते ही नही थे वे, और यदि दीखते
तो अगणित, किन्तु कुन्त जो उन पर से
चलते थे, वे पुच्छल तारो-से थे लगते।
बार-बार मरने पर अपने अश्वो के
हारा हय-युद्ध मे भी जब अजेय नही,

छोड़ के घोड़ को गज पर जयन्त चढ़।
अजय भी आरूढ़ हुआ तत्काल द्विप पै।
थे अंग आहत बहता था लोहित लट्
अत दोनो ऐसे उन द्विरदो पर दिखे
ज्यों रक्त कुसुमो से युक्त विशाल वृक्ष दो
शैल के द्वय श्याम शृंगों पै सुशोभित हो।
चले प्रहरण वृणो से रुधिर भी चला,
मानो समीर से स्रवित वे सुमन होते।
गिरे करी भी कई मर-मर अजेय के,
हुआ महा एक आश्चर्य अन्त मे।

शची

कौन-सा ?

शुचिता

पकड़कर जयन्त के दन्ती की शुण्ड को
अचानक अजेय उस पर चढ़ गया।
चिंघाड़ा मातग महावत चिल्ला के गिरा।
'साधु-साधु', 'साधु-साधु' ध्वनि से धरा गूँजी।
बिना महावत भागा गज रण-क्षेत्र मे,
था अमर, पर पशु, अत वह चमका।
फिर से अचम्भा एक हुआ युद्ध-भूमि मे,
भागते नाग से दोनों कन्दुकों वत कूदे।

टूटे शस्त्र अजेय के थे, था टूटा, वर्म भी।
कवच, आयुधादि जो अक्षय जयन्त के
गिरे कूदने में सभी, निःशस्त्र दोनों हुए।
मल्ल-युद्ध के सिवा अब न और मार्ग था;
भिड़े वे; ज्यों प्रज्वलित ज्वालाएँ समीप आ।
थे रेखाओंयुत ललाट, भृकुटियाँ टेढ़ी,
लाल-लाल-लोचन और फूली नासिकाएँ,
दाँत किटकिटाए, बाहु, जानु भिड़ गये।
सुर, नर, पशु सब सम होते घात में।
बस यहीं तक देख मैं आयी तुम्हें लेने।

शची

लेने आयी तू बहुत विलम्ब से मुझको।

शुचिता

निमग्न ऐसी हुई देखने में समर के
भूल गयी सब कुछ और अपने को भी।

(चारों तरफ़ देख, फिर नीचे की ओर देखते हुए)

लो, समरांगण के ऊपर हम आ गये
मल्ल-युद्ध उसी भाँति अभी भी है हो रहा।

तीसरा दृश्य

स्थान—समुद्र तट

समय—अपराह्न के उपरान्त

[एक ओर समुद्र दिखता है, दूसरी ओर भूमि और पीछे की ओर आकाश। समुद्र पर धुँधली-धुँधली नावें, आकाश पर धुँधले-धुँधले विमान और भूमि पर जन-समुदाय हैं। जन-समुदाय में स्त्रियाँ और बच्चे भी हैं। धरती पर दूर धुँधले-धुँधले हाथी, घोड़े और रथ भी दिखायी देते हैं। अजेय और जयन्त का मल्ल-युद्ध चल रहा है। निकट ही स्नेहलता, चपला, अक्षय और प्रभाकर दिखायी पड़ रहे हैं। भेरी झालर, घन्टे आदि बाजों का शब्द हो रहा है। बीच-बीच में जब कोई विशेष दाँव-पेच होते हैं तब अजेय की विशेषता पर मानवों में, जयन्त की विशेषता पर आकाश में सुरों में और दोनों की विशेषता पर समुद्र में दैत्यों में 'साधु-साधु', 'धन्य-धन्य' आदि शब्द सुनायी पड़ते हैं। बड़ी उत्तेजना छायी हुई है, जो जन-समुदायों की मुख-मुद्राओं से जान पड़ती है। एकाएक दूर एक धुँधला-सा रथ आकाश से उतरता दिखायी पड़ता है। कुछ देर में महेन्द्र का युद्ध-भूमि में प्रवेश। उसके हाथ में तेजस्वी वज्र है। सब का ध्यान महेन्द्र की ओर आकर्षित होता है।]

महेन्द्र

(गम्भीर और उच्च स्वर से)

वत्स जयन्त ! वत्स अजेय ! रोको रण को।

[युद्ध एकाएक रुक जाता है। वाद्य बन्द हो जाते हैं। सब एकटक महेन्द्र को देखने लगते हैं। मानवों के मुखों पर बड़ी निश्चिन्तता आ जाती है; स्नेहलता की निश्चिन्तता तो दर्शनीय होती है; परन्तु अक्षय चिन्तित हो जाता है।]

महेन्द्र

बधाई देता मैं दोनों को; द्वन्द्व-युद्ध ऐसा
विश्व में न कभी हुआ और न कभी होगा।

जयन्त

(आगे बढ़, सिर झुका, अत्यन्त नम्रता से)

रुक तो मैं गया, पिता जी, था आज्ञा आपकी
परन्तु

(अजेय की ओर संकेतकर)

बिना इस मानव के मारे मुझ
सुख, सन्तोष पल भर न मिल सकता।

महेन्द्र

मारना न तुम्हारे हाथ, हाथ है मृत्यु के,
हा, हराना तुम्हारी शक्ति पर निर्भर था ;
सो तुमने देख लिया।

[मानवों में अट्टहास।]

जयन्त

(चारों ओर देख, कुछ क्रोध से)

कहा, कहा है देवा ?

महेन्द्र

तो अब तक किया क्या ? फिर इस जीत का
उद्देश्य तो है स्नेहलता को प्राप्त करना ;
सो तुम्हें मिल सकती है समर के बिना।

[मानवों में चिन्ता की एक लहर-सी दौड़ जाती है। स्नेहलता के मुख पर असमंजस के-से चिह्न दीख पड़ते हैं, अक्षय तथा चपला के मुखों पर हर्ष के और अजेय के मुख पर अत्यधिक निराशा के। जयन्त की प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहता।]

जयन्त

तब कुछ नहीं कहना मुझे।

महेन्द्र

परन्तु है
लता पर यह निर्भर।

जनसमुदाय

(हर्ष से)

धन्य है! धन्य है!

[जयन्त, अक्षय और चपला को छोड़ सब हर्षित।]

महेन्द्र

(कुछ रुककर)

तुमको मिल जाती जो जय भी अजेय पे
तो भी प्राप्ति लता की लता पर निर्भर थी।
पाशविकता प्राप्त करा सकती तन है,
मन नहीं; औ' तन निरर्थक मन बिना।
फिर बलात्कार से जो शरीर है मिलता
उसकी सूख जाती सरसता, सौन्दर्य भी
कुम्हला जाता, और तब यह ज्ञात होता,
वस्तु, बिना प्रेम पाये, कुछ भी पाया नहीं।
अजेय ही अजेय न प्रेम भी अजेय है;
वह बल पै नहीं, निर्भर प्रेमपात्र पै।

(फिर कुछ रुककर)

अत. मैं देता हूँ अधिकार यह लता को
तुम मे औ' अजेय मे से चुने जिसे चाहे।

अक्षय

(आगे बढ़कर हाथ जोड़)

परन्तु, प्रभो, मेरा अधिकार है यह तो,
पिता चुनता कन्या का वर सनातन से,
औ' अगणित इसके कारण, देवेश, हैं,
वही है देख सकता कल्याण कुटुम्बो का,
कन्या का, वर का .

महेन्द्र

(बीच ही में)

परन्तु पहले सबसे
देखता वह वंश-लाभ. इसी से तुम्हारे
मुँह मे सर्व-प्रथम 'कुटुम्ब' शब्द आया।
न होता विवाह वंशों का, पर व्यक्तियो का,
वह भी व्यापार नही, स्नेह-सम्बन्ध होता।
पुरातन रूढ़ियाँ सुख-घातक हों जो-जो
तोड उन्हे नयी नीतियाँ बनाना धर्म है।

(कुछ रुककर)

फिर म पितावत सब का, और लता का
मे देना यह अधिकार ।

जनसमुदाय

(हर्ष से अत्यन्त उच्च स्वर से)

धन्य है ! धन्य है !

[महेन्द्र स्नेहलता की ओर देखता है । सब की दृष्टि उसकी ओर घूम जाती है । फिर एक आतुरता की लहर दौड़ जाती है । अजेय, जयन्त, अक्षय और चपला अत्यन्त आतुर है, पर स्नेहलता उल्टी शान्त हो जाती है । कुछ देर निस्तब्धता ।]

स्नेहलता

(गम्भीरता से विचार करते हुए)

चाहती म समय इस निर्णय के लिए ।

[सब चौंक पड़ते है ।]

महेन्द्र

(विचारते हुए)

कितना ?

स्नेहलता

थोड़ा ही, परन्तु शान्ति में जो मुझे
प्रभात से अब तक न मिली क्षण को भी।

महेन्द्र

(कुछ रुककर विचार-पूर्वक)

अच्छा, जाके स्वमंत्र को, सोच नव चित्त में
यहाँ आकर अनुसार निज निर्णय के
पहनाओ वरमाला देव या मानव को।

[स्नेहलता चपला को साथ ले जाने लगती है। अक्षय भी उसके पीछे-पीछे जाने को उद्यत दिखता है। प्रभाकर महेन्द्र की ओर बढ़ विनम्रता से कहता है।]

प्रभाकर

मेरी भी एक प्रार्थना, सुराज, है।

महेन्द्र

कहो।

प्रभाकर

लता निर्णय करे बिना किसी प्रभाव के,
अतः रोका जावे अक्षय का स्वगृह जाना।

[अक्षय आँखों से आग-सी बरसाता प्रभाकर की ओर देखता है।]

अजेय

लता के हृदय में है मेरे लिए जो नहीं
स्नेह का सरोज तो मैं नहीं यह चाहता
चुने वह मुझको प्रभावित हो मुझसे।
प्रेम का अर्थ यदि मैंने कुछ है समझा
तो वह, देव देवेश, देना है, लेना नहीं,
मैं चाहता लता का सुख, न सुख अपना।

प्रभाकर

परन्तु यह तभी हो सकता जब लता
निर्णय करने में स्वाधीन रहे सर्वथा।

महेन्द्र

ठीक है, अक्षय, तुम यहीं पर ठहरो।

[जन-समुदाय में अट्टहास।]

लता के लौटने तक रहेंगे यहाँ सभी।

[अक्षय दीर्घ निश्वास छोड़ता तथा बग़लें झाँकता हुआ खड़ा रह जाता है। स्नेहलता अपनी सहेली के साथ फिर जाने लगती है।]

जयन्त

(जो अब तक कुछ गम्भीरता से विचार कर रहा था एकाएक आगे बढ़कर)

ले तात, हठात बात एक सूझी मुझको।

महेन्द्र

कहो।

जयन्त

आपने अभी बलात्कार की व्याख्या की
उसके अनुसार अजेय इस स्पर्द्धा में
खड़ा ही हो सकता नहीं।

महेन्द्र

कैसे ?

जयन्त

उसने तो
बलपूर्वक स्वगृह से हरा था लता को।

स्नेहलता

(अत्यन्त गम्भीरता से)

नहीं निज इच्छा से मैं उसके सङ्ग गयी,
थी करना चाहती चुनाव यह शान्ति से।

फिर यह कोई नयी बात भी मैंने न की,
अगणित बार हूँ गयी मैं उस गेह को।
अजेय ने तो की थी प्रतिज्ञा बुलाये बिना
कभी आयेगा नहीं सामने भी वह मेरे।

(दृढ़ता से)

और, देवेश, सचमुच अब तक नहीं
मैंने इस सम्बन्ध में निर्णय कोई किया।

महेन्द्र

तेरी इस स्पष्टवादिता पर बधाई है।
जा अब जीवन-सर्वस्व को स्वतन्त्रता से
सोच समझ चुन ले, लौटकर शीघ्र आ।

[स्नेहलता और चपला का प्रस्थान। अजेय तथा जयन्त कनखियों से उसकी ओर देखते हैं। अक्षय अजेय की तरफ़ देखते हुए आँखों से आग-सी बरसाता ही रहता है। जन-समूह कभी किसी और कभी किसी की ओर देखता है।]

लघु-यवनिका

चौथा दृश्य

स्थान—अक्षय के भवन का कक्ष
समय—सन्ध्या के समीप

[स्नेहलता और चपला]

चपला

हे सखि, स्थायी को अस्थायी के हेतु तजना !

स्नेहलता

सन्-सन्, सन्-सन् सदा यही मम श्रवणों में भी
गूँजता—स्थायी को अस्थायी के हेतु तजना।
परन्तु प्रश्न पुन-पुन. पख पसार के
उठता—'स्थायी क्या, स्थायी क्या, स्थायी क्या, ?
स्थायी क्या ?'

चपला

स्थायी यौवन, स्थायी जीवन, स्थायी सम्पदा,
स्थायी सुहाग, स्थायी सुख, स्थायी श्री सब ही।

स्नेहलता

स्वर्ग के इस समस्त स्थायित्व पै, चपला,
चपल मन अचल रहा हो, यह नहीं,

पिघल-पिघल, हो चचल दौडा औ' दौडा ,
पर किसी अज्ञात, अगोचर, अनाम ने
ओझल कर अतुल, अक्षय-श्री अब्धि को
चक्षुओ के सम्मुख अजेय को खडा किया ,
औ' अजेय-सग-सग शत-शत स्मृतियां ।
साधारण-साधारण जो विस्मृत वृत्त थे ,
नये-नये रगो म रंग-रंग कर आये ।
इस रग-रंगीले सिन्धु-सम्मुख स्वर्ग हा !
ऐसा मरुस्थल दिखा, जहा स्वर्ण, रत्नो की
राशि-राशि ढेर है, परन्तु नेह नीर का
सागर नही, गागर नही, बिन्दु भी नही ।
स्वेच्छाचारी औ' अप्सराविहारी जयन्त मे
आभा है अभिमान की, स्नेह स्नेह का नही ।
मुख म, नेत्रो मे, स्वर मे, शब्दो मे, सबमे ,
सखि, बार-बार ध्वनित एक ध्वनित हाती
लालसा, लालसा, लालसा, लालसा, लालसा !
औ' इसके विपरीत विनम्रता कितनी ,
त्याग कितना, तप कितना, प्रेम कितना ,
उस अनूप, उस अभिराम, अजेय मे !

(कुछ रुककर)

सजनि, एक और है अमर सुर तथा
अपार सम्पदा, किन्तु अल्प जीवी लालसा ,

दूसरी ओर अल्पजीवी नर धन नहीं,
परन्तु अमर प्रणय।

चपला

और मरण भी।

स्नेहलता

मृत्युंजय प्रेम नहीं, दुःखंजय भी नहीं,
किन्तु जीवनंजय, तुच्छ सब जिस बिना।

(कुछ रुककर)

सखि, बिना स्नेह के अमरता वर कहाँ?
वह तो है आप, सजनि, और आप कैसा?
अनन्त, असीम, अछोर, अपार, थिर जो।

(फिर कुछ रुककर)

चलो चल अब वहाँ, आतुर जन जहाँ।

यवनिका

उपसंहार

स्थान—समुद्र तट

समय—सन्ध्या

[जन-समुदाय वैसा का वैसा है। स्नेहलता और चपला का प्रवेश। स्नेहलता के हाथों में सुन्दर पुष्पमाला है और मुख पर मन्द मुस्कराहट, ऐसी मुस्कराहट जैसी इसके पूर्व किसी दृश्य में नहीं दिखी। जन-समूह की आतुरता और कौतूहलता चरम-सीमा को पहुंच जाती है। हर व्यक्ति की मुद्रा से जान पड़ता है कि वह कितना व्यग्र है यह जानने के लिए कि वरमाला किसके गले में डाली जाती है। अजेय, जयन्त, अक्षय और प्रभाकर की आतुरता सीमा को लाँघ गयी है। महेन्द्र भी उत्सुक तो है, पर अन्य सबसे शान्त। स्नेहलता मन्द गति से आगे बढ़ रही है। उसके एक-एक डग पर सब की अधीरता बढ़ती जाती है, पर वह है इस समय धीरज की प्रतीक। ऐसी आतुरता के वायुमंडल में भी नितान्त निस्तब्धता है। किसी प्रकार का भी शब्द सुनायी नहीं देता।]

स्नेहलता

(अक्षय के पास आ, नतमस्तक हो)

तात, आपने रखा नाम मम स्नेहलता,
अनुरूप निज नाम के कृत्य मैं करती ;
समझ सकी स्वर्ग नहीं, न अमरत्व ही,
ज्ञात हुई एक वस्तु और वह स्नेह है।

(अजेय के समीप पहुँच वरमाला उसे पहनाते हुए)

बालकाल का स्नेह यौवन में प्रेम बना।
स्नेह या स्वर्ग—बना जीवन संघर्ष मेरा।
अन्त में हुआ है विजयी स्नेह, स्वर्ग हारा।
हृदय कहता मिलेगा स्वर्ग-सुख यहाँ।

[अजेय के मुख से ही नहीं बल्कि प्रत्येक अंग से आनन्द और आभार टपकता-सा जान पड़ता है, परन्तु मुख से एक शब्द नहीं निकलता। वह प्रभाकर की ओर देखता है, जो मुस्करा रहा है। अब अजेय और स्नेहलता दोनों अक्षय की ओर घूम उसके चरणों में सिर झुकाते हैं। वह न कुछ कहता और न आशीर्वाद के लिए हाथ ही उठाता है। अक्षय की ओर से घूमकर दोनों महेन्द्र के चरणों में नमन करते हैं।]

महेन्द्र

(गद्गद् स्वर से)

मानव यदि अमर हो सकते सृष्टि में,
करता मैं अमर तुम दोनों प्रेमियों को,
है यह असम्भव, अतः आशीर्वाद देता
अमर प्रणय, चिर सुख रहे तुम्हारा
औ' जीवनोपरान्त भी वृत्त यह प्रेम का
रह अमर सृष्टि को स्नेह का सन्देश दे।

(कुछ रुककर जयन्त की ओर घूम)

बधाई न दोगे तुम ?

जयन्त

(सकुचते हुए)

बधाई है, बधाई !

[अजेय जयन्त को खींचकर हृदय से लगा लेता है। उसके पश्चात् वह प्रभाकर को हृदय से लगाता है।]

समुदाय

(आकाश, समुद्र, भूमि, सब ओर से उच्च स्वर और महान् हर्ष से)

बधाई ! बधाई ! बधाई ! बधाई ! बधाई !

[नाना प्रकार के बाद्य भी बज उठते हैं और पुष्प-वृष्टि होती है ।]

प्रवनिका

समाप्त